क्रोध-समीक्षण

आचार्य श्री नानेश

प्रकाशक :

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ

बीकानेर (राजस्थान)

क्रोध-समीक्षण

□

आचार्य श्री नानेश

□

प्रकाशक
श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, रामपुरिया मार्ग,
वीकानेर-३३४००१ (राजस्थान)

□

मूल्य : छह रुपये
संस्करण . १९८५

□

मुद्रक
फ्रैण्ड्स प्रिण्टर्स एण्ड स्टेशनर्स
जौहरी वाजार, जयपुर-३०२००३
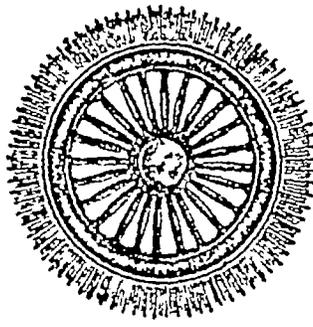
प्रकाशकीय

जिनशासन प्रद्योतक, धर्मपाल प्रतिबोधक, समता विभूति, विद्वत् शिरोमणि, समीक्षण ध्यान योगी, बाल ब्रह्मचारी, चारित्र-चूडामणि, आचार्यप्रवर श्री १००८ श्री नानालालजी म सा. का निर्ग्रन्थ-परम्परा के सन्तो मे विशिष्ट स्थान और महत्त्व है ।

आज से ६५ वर्ष पूर्व ज्येष्ठ शुक्ला द्वितीया सवत् १९७७ को मेवाड के दाता गाँव मे आपका जन्म हुआ । १९ वर्ष की अवस्था मे, आन्तरिक वैराग्य भाव से प्रेरित होकर, आपने शान्त क्रान्तद्रष्टा स्वर्गीय आचार्य श्री गणेशीलाल जी म सा के पास जैन भागवती दीक्षा अगीकृत की । स २०१९ मे माघ कृष्णा द्वितीया को आप आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए ।

अपने आचार्य-काल मे आपने धर्म और अध्यात्म, जीवन और समाज के नानाविध क्षेत्रो मे समता दर्शन के रूप मे युगान्तरकारी चिन्तन प्रस्तुत किया । समतादर्शन का ही क्रियात्मक रूप प्रतिफलित हुआ धर्मपाल प्रवृत्ति के पल्लवन एव प्रसरण मे । इस प्रवृत्ति के माध्यम से मालवा क्षेत्र के अस्पृश्य कहे जाने वाले बलाई जाति के हजारो लोगो को व्यसन मुक्त और सुसस्कारी बनाने मे आपके सदुपदेशो की अदम्य प्रेरणा रही है ।

समता-दर्शन के विकास के लिए समीक्षण ध्यान का अभ्यास जरूरी है । इन वर्षो मे आपने समीक्षण ध्यान पर विशेष बल दिया है । अपनी वृत्तियो को सम्यग्रीत्या समभावपूर्वक देखना समीक्षण ध्यान है । इस अभ्यास-क्रिया से द्रष्टाभाव का विकास होता है ।

आचार्यश्री जैन आगमो और शास्त्रो के मर्मज्ञ विद्वान् और गूढ व्याख्याता होने के साथ-साथ सृजनात्मक प्रतिभा के भी धनी हैं।

शान्त क्रान्ति के अग्रदूत स्व. आचार्य श्री गणेशीलालजी म. सा. की स्मृति मे श्री अ भा. साधुमार्गी जैन सघ ने श्री गणेश जैन ज्ञान भण्डार की स्थापना की। ज्ञान भण्डार मे अनेकानेक प्रकाशित एव हस्तलिखित ग्रन्थो का सग्रह हुआ। हस्तलिखित अप्रकाशित ग्रन्थो का सचयन कर श्री अ भा साधुमार्गी जैन साहित्य समिति सर्वजनहितार्थ प्रकाशन करती रही है। इसी शृंखला मे **'क्रोध-समीक्षण'** नाम से प्रकाशित यह नई कृति पाठको के हाथो मे सौपते हुए हमे अत्यन्त प्रसन्नता है।

जैन दर्शन मे ईश्वर-कृपा को महत्त्व न देकर आत्मपुरुषार्थ द्वारा परमात्म-तत्त्व को प्राप्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है। यह परमात्म-तत्त्व प्रत्येक जीवात्मा मे निहित है पर काषायिक प्रवृत्तियो के कारण वह सुषुप्त बना रहता है। कषाय पर विजय प्राप्त करना ही परमात्म तत्त्व से साक्षात्कार करना है। कषाय के मुख्य चार प्रकार हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। क्षमा, विनम्रता, सरलता और सतोष जैसे आत्मगुणो का विकास कर इन पर नियन्त्रण किया जा सकता है।

कषाय चतुष्क मे क्रोध कषाय प्रथम है। शारीरिक अगो की विकृति के रूप मे इसका प्रभाव देखा जा सकता है। आचार्यश्री ने 'आचाराग' सूत्र की 'जे कोह दसी से माण दसी' सूक्ति को ध्यान में रखकर इस कृति में क्रोध मनो-विकार के स्वरूप, प्रकार, उत्पत्ति, अभिव्यक्ति, दुष्प्रभाव व क्रोध-शमन के उपाय आदि बिन्दुओ पर लोक एव शास्त्र तथा धर्म एव मनोविज्ञान के धरातल पर अनुभूतिपरक समीक्षण प्रस्तुत किया है जो पाठको व साधको के लिए समान रूप से उपयोगी है। इसके लिए सघ आचार्य प्रवर के प्रति अनन्त श्रद्धा समर्पित करता है। साथ ही आचार्य प्रवर के मुखारविन्द से प्रस्फुटित होने वाली प्रस्तुत अभिव्यक्ति को विद्वद्वर्य श्री विजय मुनि जी म सा एव सेवाभावी श्री प्रकाश मुनिजी म सा. ने लिपिबद्ध किया, उनके प्रति तथा विश्रुत विद्वान् श्री शोभाचन्द जी भारिल्ल एव डॉ नरेन्द्र भानावत ने इस कृति का अवधानता के साथ अव-लोकन कर जो अपना अभिमत दिया, उसके लिए सघ आभारी है।

आशा है, यह कृति क्रोध-शमन में हमारा पथ-प्रदर्शन करेगी और इससे
ाय-विजय की प्रेरणा जागेगी ।

—गुमानमल चौरडिया
सयोजक, साहित्य समिति,
अ भा साधुमार्गी जैन सघ, बीकानेर

□□

अभिमत

समग्र जैन साधना का मुख्य लक्ष्य अनादि काल से आत्मा के साथ सलग्न कषायो का क्षय करना है। आत्मा के भव-भ्रमण एव अनेकविध ऐहिक दु'खो का मूल कारण कषाय है। कषाय की तीव्रता आत्मिक पतन का कारण है और कृशता उत्थान का। ज्यो-ज्यो कषाय का ह्रास होता है आत्मिक गुणो मे निर्मलता आती जाती है, गुणस्थान श्रेणी ऊपर की ओर वढती जाती है। कषाय मुक्ति ही एक प्रकार से मुक्ति या सिद्धि है। साधना के क्षेत्र मे हम कितने अग्रसर हुए हैं, इस तथ्य का मापदण्ड कषायो की कृशता है। कषाय आत्मा का सर्वाधिक भयकर शत्रु है।

प्रसन्नता का विषय है कि आचार्यवर्य पूज्य श्री नानेशजी म० ने इस उपयोगी विषय को अपने लेखन के लिए चुना है। क्रोध कपाय और मानकषाय सवघी लेखन का अवलोकन मैने किया। इस लेखन मे आचार्य श्री ने सम्वद्ध विषय पर विस्तार से व्यावहारिक एव सैद्धान्तिक पक्षो को समक्ष रख कर सुन्दर विवेचन किया है। यह विवेचन न केवल पठितव्य है किन्तु मन्तव्य भी है, आचरितव्य भी है, इसके लिए आचार्य श्री का शतश अभिनन्दन।

आशा है, आचार्य श्री माया और लोभ कपायो पर भी अपना विद्वतापूर्ण विवेचन प्रस्तुत करेंगे, जिससे कषाय-विवेचन मे पूर्णता आ जाए और साधक जन लाभ उठा सकें।

—प० शोभाचन्द्र भारिल्ल

सम्मति

आचाराग सूत्र आध्यात्मिक अनुभवो का सागर है। जीवन की मूल्यात्मक गहराइयाँ इसमे वर्णित हैं। आध्यात्मिक साधना के लिए उसका मार्ग-दर्शन अनोखा है। इसमे साधना एव जीवन-विकास के सूत्र बिखरे पडे हैं। आध्यात्मिक महापथ के पथिक आचार्य श्री नानेश ने आचाराग के जिस सूत्र की व्याख्या 'क्रोध-समीक्षण' नामक पुस्तक मे प्रस्तुत की है वह उनकी गहन साधना का परिचायक है। वे समीक्षण ध्यान के प्रवर्तक हैं। उनकी यह पुस्तक साधको के लिए प्रकाश स्तम्भ का कार्य करेगी। जिस दृष्टि से क्रोध कपाय को लेकर विषय का विवेचन किया गया है वह समीक्षण ध्यान के प्रयोग का एक उदाहरण है। क्रोधादि कपायो का 'दर्शी' बनना एक महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक प्रक्रिया है। वास्तव मे सम्यक् अवलोकन ही समीक्षण ध्यान है। आचार्य श्री का कहना है कि "समीक्षण के लिए साधक की अवधानता तभी बन सकती है, जब वह सतत् प्रयत्नपूर्वक चरम लक्ष्य की उपलब्धि के लिए जागृत रहे।"

विषय का विवेचन करते हुए आचार्य श्री नानेश ने क्रोध की तरतमता, क्रोध का स्वरूप, क्रोधोत्पत्ति के कारण, क्रोध के दुष्परिणाम, क्रोध-शमन के तात्कालिक उपाय आदि बिन्दुओ को स्पष्टतया समझाया है। इन सभी बिन्दुओ की समझ क्रोध-समीक्षण की आधार-शिला बन जाती है। आचार्य श्री के शब्दो मे, "समीक्षण-ध्यान एव समतामय आचरण के बल पर एक साधक अपनी साधना के अनुरूप क्रोध सबधी स्कधो का अवलोकन कर सकेगा।" वास्तव मे क्रोध-दर्शी (कोहदसी) बन जाने से साधक मान-दर्शी (माणदंसी) भी बन जाएगा। इस तरह से समीक्षण ध्यान के प्रयोग से साधक विभिन्न कपायो के आवरण को छेदता हुआ दुःखरहित बन सकता है।

आचार्य श्री का क्रोध-समीक्षण-विवेचन जैन योग के लिए नवीन दृष्टि प्रदान करता है। कषायो के समीक्षण से साधक आत्मा की शुद्धावस्था तक की यात्रा कर सकता है। प्रस्तुत पुस्तक विद्वानो एव साधको के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी, इसमे कोई सन्देह नही है। आचाराग के अन्य सूत्रो की व्याख्या भी आचार्य श्री नानेश के द्वारा इसी प्रकार हो सके, तो साधना के नये-नये आयाम उद्घाटित हो सकते हैं।

—डॉ कमलचन्द सोगानी
प्रोफेसर एव अध्यक्ष
दर्शन शास्त्र
सुखाडिया विश्वविद्यालय
उदयपुर-313001 (राज.)

सौम्य भाव की यात्रा

धर्म अन्धविश्वास, मनगढन्त कल्पना और भावोन्माद का परिणाम न होकर यथार्थ चिन्तन, उदात्त जीवनादर्शों और वृत्तियो के परिष्करण का प्रतिफलन है। चित्तवृत्तियो की शुभाशुभ परिणति से ही मनुष्य और पशु मे भेद पैदा होता है।

क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषाय अशुभ वृत्ति के सूचक हैं। इन पर नियन्त्रण और सयमन करके ही चेतना को ऊर्ध्वमुखी किया जा सकता है।

लोक और शास्त्र के गूढ चिन्तक और व्याख्याता आचार्य श्री नानेश ने क्रोध कपाय की जो व्याख्या, विवेचना और समीक्षा इस कृति मे प्रस्तुत की है वह हिन्दी साहित्य मे चिन्तन की नवीन स्फुरणा और दिशा है। क्रोध जैसे विषय पर इससे पूर्व भी लिखा गया है पर वह उसके हानि-लाभ के व्यावहारिक सदर्भों के सिलसिले मे ही। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने क्रोध विषयक निबन्ध मे मनोविज्ञान का धरातल अवश्य प्रस्तुत किया है पर वे उसे आत्मिक सस्पर्श नही दे सके हैं।

आचार्य श्री नानेश की यह मौलिक विशेषता है कि उन्होने क्रोध की उत्पत्ति, स्फीति, अभिव्यक्ति, परिणति, और उसके शमन की प्रक्रिया और सिद्धि पर सैद्धान्तिक और प्रायोगिक दोनो स्तरो पर शास्त्रीय और अनुभवप्रवण प्रकाश डाला है। साहित्य शास्त्र मे क्रोध को रौद्र रस का स्थायी भाव माना गया है पर यहाँ आचार्य श्री ने क्रोध त्याग द्वारा सहिष्णुता के विविध आयामी विकास की जो चर्चा की है, वह सौम्य भाव जगाने वाली है। यह सौम्य भाव ही रस अर्थात् आनद का स्रोत है। रौद्र से सौम्य की ओर हमारी यात्रा हो, यही इस कृति का सन्देश है।

— डॉ० नरेन्द्र भानावत

एसोशियेट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

अनुक्रमणिका

क्रोध-समीक्षण

समीक्षण ध्यान की विधा इतनी विलक्षण एवं प्रभावोत्पादिका है कि इसकी विधिवत् साधना से साधक की अन्तर्दृष्टि जागृत होकर यथातथ्य अवलोकन मे सक्षम बन जाती है। वैसी अन्तर्दृष्टि समभावना एव समदर्शिता के आधार पर एक ओर जड तत्त्वो की विभिन्न पर्यायो की भीतरी परतो को देख लेती है तो दूसरी ओर वह आत्मा की वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो के रहस्यो का अवलोकन भी कर लेती है। वस्तुत: समीक्षण ध्यान का अभ्यास करने वाला साधक आत्मद्रष्टा बन जाता है। उसकी दृष्टि तब समीक्षण-दृष्टि हो जाती है।

समीक्षण दृष्टि की शक्ति से ही यह ज्ञात किया जा सकता है कि मानव-जीवन के विकास को चरम लक्ष्य तक पहुँचा देने में कौन सी वृत्तिया अवरोध रूप हैं तथा उन अवरोधो को दूर करने मे किस प्रकार का पुरुषार्थ सहायक हो सकेगा ?

सिद्धात्मा और ससारी आत्मा के मूल स्वरूप मे कोई अन्तर नही है। अन्तर है तो केवल उस स्वरूप की आवृत्तता का एव अनावृत्तता का। ससारी आत्माओ के मूल स्वरूप पर कर्मावरण होता है और सिद्धात्मा पूर्ण रूप से अपने मूल तेजस्वी स्वरूप में निरावृत्त होती है। ये कर्मावरण आत्मा की स्वाभाविक शक्तियो को आच्छादित किये रहते हैं, आत्मा की ही अपनी विषय-गामिनी वृत्तियो एव प्रवृत्तियो के कारण विषय कषाय से अनुरजित होकर उसकी वैसी वृत्तियो एव प्रवृत्तियो के कुप्रभाव से आत्मा के मूल गुण दब जाते हैं, छिप जाते हैं अथवा विकृत रूप ले लेते हैं। प्रवाह रूप मे अनादि काल से ससारी आत्मा की यही स्थिति बनी हुई है।

समीक्षण-ध्यानी अपनी विशिष्ट विवेक शक्ति द्वारा शुद्ध एव अशुद्ध आत्म-स्वरूप का पृथक्करण करता है। और अशुद्धता के कारणभूत काषायिक वृत्तियो को भी देखता है। श्री आचाराग सूत्र के तृतीय अध्याय के चतुर्थ उद्देशक मे कहा गया है—"से वता कोह च माण च माय च लोभ च, एय पासगस्स दंसण उवरयसत्थस्स पलियतकरस्स, आयाण सगडब्भि"। अर्थात् काषायित वृत्तियो रूपी अवरोधो को शास्त्रोक्त रीति से सयम का अनुष्ठान करके दूर कर सकते हैं। यह उपदेश किसी सामान्य व्यक्ति का नहीं बल्कि उन सर्वज्ञ तीर्थंकरो का है जिन्होंने स्वयं इन शस्त्र रूप अवरोधो को समीक्षण ध्यान द्वारा दूर किया तथा अपने आन्तरिक विकारो का समूल उन्मूलन करके भव-भ्रमण का अन्त किया

और परम पद प्राप्त किया। अत इस उपदेश मे किंचित्मात्र भी सन्देह को स्थान नही है।

मोक्ष का अधिकारी कौन ?

वीतराग वाणी के अनुसार वही मोक्ष का अधिकारी बनता है जो पुरुष सम्यक्ज्ञान, दर्शन एव चारित्र की आराधना करते हुए सयम का अनुपालन करता है। वह क्रोध, मान, माया, लोभ आदि का क्षय करके आठो कर्मों तथा तज्जन्य विकारो का क्षय करता है और फलस्वरूप मोक्ष को प्राप्त करता है। इस प्रकार प्रस्तुत आगमसूत्र मे क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायो के क्षय को मुक्ति प्राप्ति का मुख्य साधन कहा गया है। इसका कारण यह है कि कषाय ही प्रमुख रूप से आत्म-गुणो का घात करने वाली है। कषाय की व्याख्या ही यह है कि जो आत्म-गुणो को कषे (नष्ट करे) तथा भव-भ्रमण की आय-वृद्धि उत्पन्न करे। अतएव कषाय के स्वरूप को समझना तथा उससे विरति लेने के उपायो को अपनाना परमावश्यक हो जाता है।

आत्मा की विकास-यात्रा के ये सभी काषायिक अवरोध दूर हो और उसका मूल स्वरूप निरन्तर उज्ज्वल से उज्ज्वलतर होता रहे, तभी मोक्ष का अधिकार निरन्तर समीप से समीपतर आता है। अतएव मोक्ष के इस अधिकार को समग्र रूप से समाहित कर लेने के लिए कषायो को विलग करने का पुरुषार्थ क्रियान्वित किया जाना चाहिये।

काषायिक वृत्तियो का जब समग्र रूप से उन्मूलन हो जाता है तो चेतना शक्ति परिपूर्ण रूप से उद्भासित हो जाती है और उसका अनन्त ज्ञान-दर्शन स्वभाव प्रकट हो जाता है। तब पुरुष समस्त पदार्थो के समग्र का ज्ञाता, त्रैकालिक गुण पर्यायो का, द्रष्टा, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी बन जाता है। क्योकि परमाणु आदि द्रव्यो मे से जो किसी एक को परिपूर्णत. जानता है, वह ससार के समस्त पदार्थों को भी सम्पूर्णतया जानता है और जो ससार के समस्त पदार्थो को सम्पूर्ण रूप से जानता है, वही एक पदार्थ को समग्रता के साथ जान सकता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षाओ से एक-एक पदार्थ की अनन्तानत पर्यायें होती हैं और इनका समस्त रूप से ज्ञान कषाय क्षय के पश्चात् ही सम्भव बनता है।

यही नही, कषाय-क्षय के पश्चात् भय की परिसमाप्ति भी हो जाती है। ऐसा साधक पूर्णतः निर्भय हो जाता है क्योंकि मोक्ष मार्ग की आराधना मे आस्था रखने वाला तथा तीर्थंकर भगवान् द्वारा प्रतिपादित आगम के अनुसार आचरण करने वाला, अप्रमत्त विवेकवान मुनि ही क्षपक श्रेणी के योग्य होता है। ऐसा पुरुष छह कायो के जीव रूप लोक को सर्वज्ञ भगवान के आगमोपदेश से

जानकर किसी भी प्राणी को भयभीत नही बनाता है। वह स्वय निर्भय होता है, दूसरो को निर्भयता प्रदान करता है, उसके आसपास निर्भयता का पावन-प्रशान्त वातावरण स्वत निर्मित हो जाता है।

कषाय—विरति का मार्ग

जो साधक कषायो का क्षय कर देता है, उसे किसी से भी भय नही रहता तथा उससे भी किसी को भय नहीं रहता है। प्राणियो को शस्त्रो के द्वारा भय उत्पन्न होता है। ये शस्त्र दो प्रकार के होते हैं—द्रव्य शस्त्र और भाव शस्त्र। भाव शस्त्रो मे कषायो का मुख्य स्थान है। ये शस्त्र तीक्ष्ण से तीक्ष्णतर होते हैं और इनका अन्त अशस्त्र रूप सयम से ही होता है। सयम ही कषायविरति का राजमार्ग है।

साधना से ही सम्यग् दृष्टा होकर साधक समीचीन कषाय-दर्शी बन सकता है। आत्मा स्वय जब स्वय की कषाय वृत्तियो का समीक्षण करने लगेगी, तभी उसे स्पष्ट रूप से अनुभूति होने लगेगी कि उसके मूल गुणो का घात करने मे ये कषाय कितने अनर्थकारी हैं। उस अनर्थकारी स्वरूप के दर्शन के बाद ही वह अन्तर्दृष्टि तथा अन्तर्जागृति उत्पन्न हो सकेगी कि इन कषायो का क्षय किया जाना आवश्यक है।

आचाराग सूत्र के तृतीय शीतोष्णीय नामक अध्ययन के चतुर्थ उद्देशक मे कहा गया है—

"जे कोह दसी, से माण दसी
जे माण दसी, से माया दसी
जे माया दसी, से लोभ दसी
जे लोभ दसी, से पिज्ज दसी
जे पिज्ज दसी, से दोस दसी
जे दोस दसी, से मोह दसी
जे मोह दसी, से गब्भ दसी
जे गब्भ दसी, से जम्म दसी
जे जम्म दसी, से मार दसी
जे मार दसी, से णरय दसी
जे णरय दसी, से तिरिय दसी
जे तिरिय दसी, से दुक्ख दसी
से मेहावी अभिणिवट्टिज्जा कोह च माण

च मायं च लोभ च पिज्ज च दोम च मोह च गब्भ च जम्मं च मार च णरय, च तिरय च दुक्ख च। एयं पासगस्स दसणे उवरयसत्थस्स पट्टलियंतकरस्स

आयाणं णिसिद्धा सगडब्भि, किमत्थि ओवाही पासगस्स ? ण विज्जई ? णत्थि ।। २५ ।। त्ति बेमि ।।

अर्थात् जो पुरुष क्रोध को (अनर्थकारी) देखता है, वह मान को (अनर्थकारी) देखता है और इसी प्रकार माया, लोभ, प्रेय, द्वेष, मोह को (अनर्थकारी) देखता है वह गर्भावास के, जन्म-मरण के तथा नरक व तिर्यंच गति के दुःखो को भी देखता है। ऐसा आत्म-द्रष्टा साधक सभी दु खो को देखता है, उन्हे अनर्थकारी मानता है तथा उनसे मुक्त होने का पुरुषार्थ प्रारम्भ करता है। कषाय जनित दुःखो से मुक्त होने का उपदेश सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकरो का है। क्या सर्वज्ञ एव सर्वदर्शी तीर्थंकरो को किसी प्रकार की उपाधि होती है ? नही होती है। ऐसा स्वय वीतराग देव फरमाते है।

क्रोधादि कषायो का "दर्शी" बनना अर्थात् इन कषायो के स्वरूप, इनके प्रकार, इनकी परिणति एव इनके दुर्विपाक का समीक्षण करना। यह एक महत्त्वपूण आध्यात्मिक प्रक्रिया मानी गई है। जो साधक अपनी आत्मा के भीतर उतरता है और भीतर के स्वरूप को अपनी ज्ञान दृष्टि से देखता है, वही आत्म-द्रष्टा कहलाता है। ऐसा आत्म-द्रष्टा इन कषायो को भी देखता है और यह भी देखता है कि ये कषाय किन-किन रूपो मे आत्म-गुणो पर आघात पहुँचाते है ?

इस कषायदर्शन से उसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि काषायिक परिणामो की जटिलता एव तीक्ष्णता कैसी होती है तथा उससे सफल सघर्ष करने के लिये उसकी सयम-साधना कितनी उत्कृष्ट होनी चाहिये ?

कषायो का वर्गीकरण

कषाय के मूलत चार प्रकार है—क्रोध, मान, माया और लोभ।

आचाराग सूत्र मे किया गया कषायो का वर्गीकरण आध्यात्मिक होने के साथ-साथ गूढ वैज्ञानिक एव मनोवैज्ञानिक भी है। सम्यक्‌दृष्टा साधक के मन एव आत्मीय भावो मे जब काषायिक वृत्तियाँ सक्रिय होने लगती है, तब वह आत्मद्रष्टा साधक कषायो के तारतम्य को तुलनात्मक रूप से देख सकता है। कषायो की तरतमता की दृष्टि से ही उनका शास्त्रीय वर्गीकरण किया गया है। पहले से दूसरा तथा दूसरे से तीसरे कषाय की जटिलता एव तीक्ष्णता सूक्ष्मतर होती हुई चली जाती है। इसीलिए कहा गया है कि जो क्रोधदर्शी होता है, वह मानदर्शी होता है, जो मानदर्शी होता है वह मायादर्शी होता है, जो मायादर्शी होता है, वह लोभदर्शी होता है आदि आदि। इस क्रम का अभिप्राय यह है कि क्रोध से मान की जटिलता एव तीक्ष्णता अधिक, तो उससे माया की अधिक। इस प्रकार इन कषायो की उत्तरोत्तर अधिक जटिलता एव तीक्ष्णता देखी जा सकती है, अनुभव की जा सकती है, तथा उन्हे त्यागने का पुरुषार्थ क्रियान्वित किया जा सकता है।

क्रोध कषाय

कषायो के इस क्रम मे क्रोध सबसे पहले है। उल्लिखित सूत्र—"से वता कोह च माण च . .. " मे क्रोधादि के वमन की बात कही गई है। इस पर जिज्ञासु की जिज्ञासा सहज ही प्रस्तुत होती है—क्रोधादि का वमन कैसे किया जाय ? क्रोध उदर मे पडा स्थूल पदार्थ तो नही है, जिसे वमन कर दिया जाय। यह तो आत्म प्रदेशो से सम्बन्धित कर्म-वर्गणा के पुद्गल-स्कध रूप है और वे स्कध भी योग और कषाय रूप मन्द, मन्दतर, मन्दतम एव तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम अध्यवसायो के रग से अनुरजित परिणामो के कारण बधन को प्राप्त हुए है। इस प्रकार के अध्यवसायो से एक समय जिन और जैसे कर्म-स्कधो का आत्मा के साथ सम्बद्ध होने का प्रसग आता है, दूसरे समयो मे अन्य प्रकार के अध्यवसायो के कारण अन्य ही प्रकार के कर्म स्कध बद्ध होते हैं। इस प्रकार क्रोधादि से सम्बन्वित कर्म-स्कध एक ही तरह के नही होते हैं। फिर उनके वमन करने का विधान कैसे फलित हो सकता है ? यह जिज्ञासा अति महत्त्वपूर्ण है।

इसका समाधान प्राप्त करने के लिए एकावधानता, एकाग्रता की नितान्त आवश्यकता है। इसके लिए साधक बाह्य विषयो के परिवेशो से सम्बन्धित अवलोकन का रूपान्तरण करके अन्तर्मुखी बने। इस अन्तर्मुखी अवलोकन मे आन्तरिक ज्ञान-प्रज्ञा के चक्षु उद्घाटित करने होगे जो सम्यक् विशेषता से समन्वित हो।

ऐसे सम्यक् अवलोकन को ही समीक्षण ध्यान की सज्ञा दी गई है। इस प्रज्ञा-रूप चक्षु से शरीर मे रहे हुए समग्र तत्त्वो का समभावपूर्वक अवलोकन करना चाहिये। इस शरीर पिण्ड के भीतर जिन महत्त्वपूर्ण तत्त्वो का सन्धियुक्त जाल बिछा हुआ है, उसके छिद्रो मे अपनी आन्तरिक प्रज्ञा का अवरोध न करते हुए उन छिद्रो मे रहे विवरो से प्रतरो एव प्रतरो की सधियो का सम्यक् अवलोकन करना चाहिये। इस अवलोकन मे साधक को अत्यन्त धैर्य के साथ गतिशील रहना चाहिये। तभी समीक्षण की शक्ति तीक्ष्ण होती हुई आगे आत्मप्रदेशो से सम्बद्ध कर्म-स्कधो तक पहुचाई जा सकती है। तब उसे और अधिक तीक्ष्ण बनाने की आवश्यकता होती है, क्योकि कर्म-स्कध सिर्फ क्रोधादि कषायो मे ही सम्बन्धित नही हैं। वे तो अन्य कर्मो से भी सम्बन्धित रहते हैं। ये कर्म-स्कंध भी एक दो नही, पर च अनन्तानन्त हैं जो असख्य-असंख्य अध्यवसायो के रगो से अनुरंजित होते हैं। उनमे वे बहुलता से कषायो से अनुरंजित रहते हैं। उन कर्म-स्कधो में से सिर्फ क्रोध-कषाय के स्कधो को तथा उनके तारतम्य को समीक्षण का विषय बनावें।

समीक्षण दृष्टि से "कोहदंसी" बनें

समीक्षण-दृष्टि से जब क्रोध के कर्म-स्कधो का अवलोकन किया जाता है

तो उनका अवलोकन करने वाला एव समग्र तारतम्य से युक्त उन स्कधो को सम्पूर्ण आत्म-प्रदेशो से विलग करने वाला "वता" सज्ञा से अभिहित होता है। यह तो विलग करने वाले "वता" की स्थूल प्रक्रिया है, किन्तु यह स्थूल प्रक्रिया भी साधक के द्वारा कब सम्पन्न हो सकती है? इसका सकेत प्रभु महावीर ने सारगर्भित विधि से दिया है।

समीक्षण के लिये साधक की अवधानता तभी बन सकती है, जब वह सतत प्रयत्नपूर्वक चरम लक्ष्य की उपलब्धि के लिये जागृत रहे। इस जागृति मे यदि कोई अवरोधक तत्त्व हैं तो उनको नमा कर उन्हे स्वय के नियन्त्रण में करना एव स्वय की जागृति के माध्यम से स्वय नियता बनना अत्यन्त आवश्यक है।

क्रोधादि कापायिक भाव ऐसे अवरोधक तत्त्व हैं जिन्हे एक शास्त्रीय-शब्द द्वारा कहा जाय तो वह होगा "प्रमाद"। प्रमाद, जागृत दशा की सुषुप्ति है। द्रव्यतः जागते हुए भी भावत. सुषुप्त रहना अर्थात् अनवहित रहना प्रमाद है। अनवहित अवस्था का लाभ उठाकर ही अन्य सभी अवरोध रूपी तस्कर क्रियाशील हो जाते हैं—उभरते हैं। अत जब तक साधक प्रमत्त है, वह उपर्युक्त विधि से समीक्षण सम्बन्धी अवधानता को निरन्तर साध नही सकेगा, क्योकि साधक की एकाग्रता प्रमत्ता से छिन्न-भिन्न हो जाती है। ऐसी दशा मे वह "कोह दंसी" भी नही बन सकेगा।

यदि साधक पहले से भी अधिक क्षमता प्राप्त करके आन्तरिक शुद्धि की प्रबलता के साथ प्रमाद को पराजित कर देता है तो वह विजेता होकर "कोह दसी" और उससे आगे का भी दृष्टा बन जाता है। प्रमत्ता की पराजय से, उससे उत्पन्न होने वाली कापायिक एवं अन्य विकृत वृत्तियाँ स्वमेव पराजित हो जाती हैं। दूसरे शब्दो मे यो कहे कि इन सभी वृत्तियो को स्व-नियन्त्रण मे लेकर उनको पराजित करना ही प्रमत्त भाव को पराजित करना है।

तब साधक "कोह दसी" बनकर क्रोध के कर्म स्कधो को देखने लगता है। वह उन कर्म-स्कधो के तारतम्य को विश्लेपित भी करने लगता है। इस विश्लेपण से यह ज्ञात हो जाता है कि कौनसा कर्म-स्कध कितनी रस-शक्ति को रखने वाला है तथा रस एव स्थिति-काल मर्यादा सम्बन्धी उसकी कितनी प्रगाढता या अल्पता है? इस ज्ञान के साथ कर्म-स्कधो की मूल सत्ता प्रकम्पित होती है, क्योकि तब "कोह दसी" उन स्कधो का क्षय करने के लिये तत्पर बन जाता है।

किन्तु साधक के लिये निर्देश दिया गया है कि वह आगमो मे उल्लिखित विधेयात्मक आज्ञाओ के आधार पर ही आगे बढे। क्योकि उन आज्ञाओ मे अनुभूत तथ्य और सर्वज्ञता का सत्य भरा हुआ है। अन्तर्जागृति के साथ जब वह साधक वीतराग देव की आज्ञाओ का अनुपालन करेगा तभी वह क्रोधादि कपायो

के कर्म-स्कधो का भली-भाँति विश्लेषण कर सकेगा तथा उस विश्लेपण से उन्हे क्षीण करने का पुरुषार्थ सक्रिय बना सकेगा । सच्चे अर्थों मे तभी वह "कोह दसी" (क्रोध दर्शी) आदि बन सकेगा ।

क्रोध की तरतमता

समीक्षण दृष्टि के विस्तार के पश्चात् ही यह विदित हो सकता है कि परिणामो की आन्तरिकता मे क्रोध की तरतमता किस रूप मे चल रही है ? क्रोध के कर्म-स्कध किस रीति से क्रियाशील है ? क्या वे अनन्तानुबन्धी वृत्ति से सम्बन्धित हैं, अथवा अप्रत्याख्यानादि वृत्तियो से ? वे तीव्र रस वाले हैं, अथवा मन्द रस वाले ? और उनमे भी वे निकाचित हैं या अनिकाचित ? उनका किस अवस्था मे अवस्थान चल रहा है ? इस तथ्य का भी अवलोकन किया जाना चाहिये कि क्या वे कर्म-स्कध सत्तागत हैं । यदि वे सत्तागत हुए तो उनका समीक्षण करने मे कठिनाई अधिक आयगी और यदि वे उदयगत हैं तो कठिनाई अपेक्षाकृत कम होगी ।

क्रोध की सत्तागत एव उदयगत अवस्थाओ की चर्चा करें, उससे पहले उसकी तरतमता की विभिन्न श्रेणियो की जानकारी जरूरी है । आध्यात्मिक दृष्टि से क्रोध के तारतम्य को, साथ ही अन्य कषायो के भी तारतम्य को परखने के लिए निम्न श्रेणियाँ वर्णित की गई हैं—

अनन्तानुबंधी श्रेणी

समभाव को सर्वथा भूलकर जब कोई गहरे आक्रोश से भर उठता है और रोष की उस जटिलता को सुदीर्घ काल तक पकडे रहता है तब वह इस श्रेणी मे फसा हुआ माना जाता है । इसे समझने के लिए शास्त्रों मे एक स्थूल उदाहरण दिया गया है कि जैसे पर्वत शिला टूट जाने से उसमे पड जाने वाली दरार का पटना असभव-सा होता है, उसी प्रकार अनन्तानुबधी क्रोध कब और कैसे समाप्त होगा—इसका अनुमान कठिन ही है । क्रोध की यह जटिलता एव तीक्ष्णता इतनी आत्मगुण-घातक मानी गई है कि इसके रहते सम्यक्दर्शन तक का वरण सभव नही होता है, जो साधना का मूलाधार है, मोक्ष महल का प्रथम सोपान है और जिसके अभाव मे समस्त ज्ञान और अनुष्ठान साध्य (सिद्धि) की दृष्टि से निरर्थक है ।

अप्रत्याख्यानावरण श्रेणी

यह श्रेणी प्रथम श्रेणी से कम जटिल एव कम तीक्ष्ण होती है, किन्तु इस श्रेणी मे फसी हुई आत्मा श्रावकत्व-आशिक सयम की साधना से वचित रहती है । इस श्रेणी के स्वभाव को परखने के लिये सूखी मिट्टी की दरार का दृष्टान्त दिया गया है । जैसे—तालाब का पानी जब पूरी तरह से सूख जाता है तो उसकी सूखी हुई मिट्टी मे जगह-जगह दरारें पड जाती है । लेकिन वे दरारें

सुदीर्घकाल तक नही टिकती हैं। ज्योही पुनः वर्षा आती है और तालाब मे पानी भरता है तो उसके सयोग से वे दरारें फिर भर जाती है। इस प्रकार इस श्रेणी के क्रोध की तीव्रता अनन्तानुबधी क्रोध से कम होती है।

प्रत्याख्यानावरण श्रेणी

इस श्रेणी के क्रोध को तीव्रता अप्रत्याख्यानावरण क्रोध से भी कम होती है, किन्तु अगली श्रेणी सज्वलन क्रोध से तीव्र होती है। इस श्रेणी के क्रोध की उपमा रेत मे खीची गई लकीर से दी गई है। जैसे—हाथ की अगुली से रेत मे खीची गई लकीर, ज्योही हवा का झोका चलता है, मिट जाती है, उसी प्रकार यह क्रोध कुछ समय तक ही टिकता है। इससे सकल सयम-साधुत्व गुण का घात होता है।

संज्वलन श्रेणी

यह क्रोध की मन्दतम श्रेणी है। यह साधक को कषाय के सर्वथा त्याग की ओर आगे बढाने वाली श्रेणी है। यह श्रेणी पानी मे खीची हुई लकीर के तुल्य वर्णित की गई है। अगुली से पानी मे लकीर खीची जाय तो यही होगा कि इधर लकीर खीची और उधर मिट गई। इसी प्रकार इस श्रेणी का क्रोध इधर आया और उधर गया—इतना अल्पजीवी होता है। सज्वलन क्रोध की अवस्था मे यथाख्यात चारित्र का घात होता है। इस श्रेणी से ऊपर उठने पर क्रोध कषाय की सम्पूर्णतया परि-समाप्ति हो जाती हैं।

इस प्रकार क्रोध के भाव-परिणामो एव कर्म-स्कधो के सम्यक् प्रकार से किये गये अवलोकन से उसकी तरतमता का विश्लेषण किया जा सकता है और तदनुसार किस प्रकार के पुरुषार्थ की उस वर्तमान श्रेणी से ऊपर की श्रेणी मे पहुंचने के लिये आवश्यकता होगी, इसका सही-सही अनुमान लगाया जा सकता है।

क्रोध की अभिव्यक्ति

आधुनिक वैज्ञानिको ने इस अवस्था मे रहने वाले क्रोध-कर्म-स्कधो की अभिव्यक्ति के चित्र तक ले लिये हैं। इस अवस्था तक पहुँच कर वे क्रोध-कर्म-स्कध निर्जरित तो होने लगते हैं, किन्तु वे नये कर्म स्कधो के निर्माण की सामग्री भी छोड़ जाते हैं, जिससे आत्मा और अधिक नवीन क्रोध-कर्म-स्कधो का सचय कर लेती है। यह प्रवाह अनादि काल से चल रहा है।

सत्तागत क्रोध-स्कंधो का प्रारम्भिक अवस्था मे अवलोकन होना भी अत्यन्त कठिन होता है, किन्तु अशक्यता जैसी कोई बात नही है। हाँ, उदयगत स्कधो का अवलोकन अपेक्षाकृत सरलतापूर्वक हो सकता है। इसके लिये

आवश्यकता होती है, समीक्षण दृष्टि की। जिस दृष्टि के द्वारा सत्तागत और उदयगत क्रोध के कर्म-स्कधो का सम्यक् अवलोकन करने की ऊर्जा प्राप्त कर ली जाय।

कर्म-स्कध दो रूपो मे उदय को प्राप्त होते हैं—एक स्वाभाविक रूप से सम्बन्धित कर्म का अबाधा काल समाप्त होने पर होने वाला कर्मोदय और दूसरा उदीरणा विशेष द्वारा अनुदय प्राप्त सम्बन्धित कर्म-स्कधो को उदय प्राप्त बनाने पर होने वाला उदय। इन दोनो प्रक्रियाओ मे बाह्य निमित्त भी उभर कर सामने आते हैं। यद्यपि स्वाभाविक रूप मे होने वाले उदय में भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावादि की अपेक्षा रहती है, तथापि उदीरणा मे बाह्य निमित्त प्रधान होता है।

यहाँ इतनी विशेषता ध्यान मे रखनी चाहिये कि बाह्य निमित्तो की अपेक्षा विपाकोदय एव उदीरणा के लिये ही है। जब किसी कर्म-स्कध का स्थिति काल पूर्ण होता है तो वह बाह्य निमित्तो के अभाव मे भी अनायास उदय मे आकर निर्जीण-क्षीण हो जाता है। कभी-कभी निमित्त भले ही कमजोर हो, पर वे क्रोध-स्कधो को तो अवश्य उत्तेजित कर देते हैं।

क्रोध का उदय होने पर, क्रोध का प्रकटीकरण होना एव उसके निमित्त के यत्किचित् दोष को बडे रूप मे प्रकट करने का अथवा निमित्त का दोष न होने पर भी उसमे दोष के आरोप का प्रसग पैदा करना विचारणीय बन जाता है। उस समय समीक्षण पूर्वक निमित्त के, व्यवहार का विश्लेषण करना अति आवश्यक बन जाता है तथा उसके प्रति होने वाले विषम भाव को समभाव मे परिणत करने की तत्परता बनाना साधक के लिये महत्त्वपूर्ण होता है।

विषम भाव को समभाव मे किस प्रकार परिणत किया जा सकता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि साधक को पारमार्थिक चिन्तन करना चाहिये कि जो भी कर्म-स्कध उदय मे आये हैं और उनका जो भी इष्ट या अनिष्ट विपाक हो रहा है, उसका कर्ता तो मैं स्वयं ही हूँ।

> स्वयं कृत कर्म यदात्मना पुरा,
> फल तदीयं लभते शुभाशुभम्।
> परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुट,
> स्वय कृत कर्म निरर्थक तदा ॥
>
> —आचार्य अमितगति

अर्थात् अतीत मे इस आत्मा ने जो भी, जैसे भी, शुभ या अशुभ कर्मों का उपार्जन किया है, उन्ही का शुभाशुभ फल वह पाता है। दूसरों द्वारा दिया फल भोगना पडे तो अपने किये कर्म निरर्थक निष्फल ही हो जाएँ।

आगम कहता है—

अप्पा कत्ता विकत्ता य, सुहाण य दुहाण य ।

अर्थात् अपने सुख-दुःख का कर्ता-हर्ता स्वय आत्मा ही है ।

इस प्रकार के पारमार्थिक चिन्तन से अवगत होना कि जो भी परिस्थिति मेरे समक्ष उपस्थित है, उसका उपादान कारण मैं स्वय हूँ । इस अवगति से पर-निमित्त कारण के प्रति होने वाला राग-द्वेष उत्पन्न नही होगा और राग-द्वेष जन्य विषम भाव भी उत्पन्न न हो सकेगा ।

निरन्तर इस प्रकार का समीक्षण करने से विषम भाव उत्पन्न ही नही होगा और एक समय ऐसी मानसिक स्थिति बन जाएगी कि विषम भाव को समभाव मे परिणत करने की आवश्यकता ही नही रहेगी । साधक का समभाव प्रत्येक परिस्थिति मे अखण्डित ही बना रहेगा ।

साथ ही कर्म-स्कधो का जैसा स्वरूप हो, उसी स्वरूप मे उनका अवलोकन करना चाहिये तथा उससे होने वाली लाभ-हानि का चिन्तन समता भाव से करना चाहिए । इस आन्तरिक एव सूक्ष्म अवलोकन मे बाह्य रूपक का आश्रय भी लिया जा सकता है । जैसे काला नाग घर मे घुस जाय तो हर कोई उसे बाहर निकाल देने मे ही अपना हित समझता है । वह उसे छेडने का प्रसग नही लाता हुआ यदि नाग स्वत ही बाहर निकल जाए तो बहुत प्रसन्न होता है । घर मे नाग के रहने पर परिवार के सभी सदस्यो को खतरा बना रहता है, क्योकि नाग न जाने किस समय किस को डस ले—अपना जहर उन पर छोड दे ? वह घर मे रहा और कभी किसी के द्वारा छेड दिया गया तो खतरा भयावह हो सकता है । जिस व्यक्ति को वह डस लेता है, उसके जहर का उस व्यक्ति के शरीरस्थ ग्रथि तत्र के सभी केन्द्रो पर असर पडता है । शरीर के भीतर मे विषवर्षी ग्रथि-तत्र भी होते हैं, तो अमृत वर्षी ग्रथि-तत्र भी होते हैं । बाहर के मारक विष का प्रभाव होने पर अमृत वर्षी ग्रथि-तत्र निष्क्रिय होने लगते हैं तथा विषवर्षी ग्रथि-तत्र सक्रिय, जिसके कारण बाहर के जहर तथा भीतर के जहर के सयुक्त हो जाने से एक नई विष शक्ति का स्रोत फूट पड़ता है ।

जैसे इस रूपक मे परिवार के सदस्यो की दशा बनती है, वैसे ही ये क्रोध स्कध इस शरीर रूपी घर मे रहने वाले केन्द्रो एव ग्रथि तत्रो रूप सदस्यो के लिये काले नाग का काम करते हैं । जब ऐसे कर्म-स्कध उदित होते अर्थात् अपना प्रभाव प्रकट करते हैं, तब नेत्रो के लाल हो जाने के साथ सर्प की जिह्वा की तरह रक्तिम विष-तरगें मनुष्य के ज्ञान तत्र पर छा जाने लगती हैं ।

क्रोध का वैज्ञानिक स्वरूप

शरीर मे एक कठमणि भी होती है, जिसे यौगिक भाषा मे विशुद्धि चक्र कहा जाता है। आधुनिक वैज्ञानिक जिस ग्रन्थि को "थाइराइड" कहते है। जिससे एक प्रकार के अमीय रस का स्राव होता है। वैज्ञानिक जिसे थायरोक्सिन रस कहते है। यह रस प्रणाली विहीन पद्धति से सीधा रक्त मे सम्मिश्रित होता है, जिसके फलस्वरूप शरीर के समस्त केन्द्रो तथा ग्रथि-तत्रो को सम्पुष्टि प्राप्त होती है। इस रस का अनुसधान इसी शताब्दी मे किया गया है। इस रस के सिवाय इस प्रकार के अन्य रस भी भीतर मे स्रवित होते रहते हैं, जिनका शरीर-सस्थान के सचालन मे विविध रूपो मे उपयोग होता है।

क्रोध से होने वाली हानियो को स्पष्ट करते हुए मनोवैज्ञानिको ने भी कहा है—

भय और क्रोध की अवस्था मे जिस तरह मुह से लार पैदा करने वाली गिल्टियाँ ठीक से काम नही कर पाती हैं, जिससे ऐसी अवस्था मे मुंह सूख जाता है, उसी तरह यह गिल्टी भी ठीक से काम नही करती। अतएव जितने परिमाण मे वह गिल्टी साधारणतः थायरॉक्सिन नामक रस का उत्पादन करती है, उतने परिमाण मे वह भय और क्रोध की अवस्था मे उस रस को उत्पादित नही करती। रक्त मे इस रस की कमी होने पर शरीर मे अनेक प्रकार की बीमारियाँ पैदा होती हैं। थायरॉक्सिन एक प्रकार का अमृत रस है। यह अमृत हमारे शरीर को स्वस्थ रखता है तथा रोगो का विनाश करता है। इसकी कमी होने पर शरीर की विनाशात्मक क्रियाओ की वृद्धि हो जाती है तथा मनुष्य का मृत्युकाल निकट आ जाता है। सिर दर्द, हृदय की धडकन, अपच आदि रोग बढ जाते है। शरीर की स्फूर्ति और तेज चले जाते हैं। इस तरह जिस व्यक्ति को जितना ही अधिक भय और क्रोध सताते हैं, उसका शारीरिक स्वास्थ्य उतना ही नष्ट हो जाता है।

इन अमीय रसो के अतिरिक्त विपवर्षी ग्रथियाँ भी भीतर मे मौजूद हैं, जिनका रस भी शरीर मे यथास्थान आवश्यक कार्यों के लिये प्रयुक्त होता है किन्तु बहुत ही नियत्रित एव सीमित रूप मे। इन ग्रथि-तत्रो का ज्ञान भले ही भौतिक वैज्ञानिको को इसी शताब्दी मे हुआ हो, परन्तु सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी तीर्थकर देवो के केवलालोक मे इतना ही नही, अपितु समूचा विज्ञान भासित था। इसीलिये उन्होने इस विषय मे बहुत ही महत्त्वपूर्ण सकेत दिये है, जिनका ज्ञान समीक्षण ध्यान के अभ्यास से प्राप्त किया जा सकता है।

आधुनिक वैज्ञानिको का क्रोध के स्वरूप के सम्बन्ध में एक और मत भी है। वे क्रोध के प्रकटीकरण के बाद उससे उसी के होने वाले समय को महत्त्व

देते हैं। उनकी अभी तक की धारणा यह है कि जो क्रोध एक बार उत्पन्न हुआ और वह यदि पूरी तरह से अभिव्यक्त हो जाय तो क्रोध सदा के लिये समाप्त हो जाएगा। उसकी अभिव्यक्ति को न होने देने या उसे दबाने से उसका प्रवाह कायम रहता है। किन्तु उनकी यह धारणा आंशिक है। वे इस दिशा मे गतिशील रहें तो उन्हे अपनी आंशिकता का अनुभव भी हो जायगा। इस अनुभव से ही वे अपने अनुसधान मे आगे बढ सकेंगे। वे यदि इस अनुसंधान मे वीतराग वाणी का आश्रय लें तो अभीष्ट लक्ष्य तक शीघ्र पहुँच सकेंगे। उस समय उनको सही रूप से ज्ञात होगा कि अवयवो मे अभिव्यक्त क्रोध का सक्षय क्या सर्वथा एव सर्वदा के लिये सक्षय को प्राप्त हो गया ? नही, अवयवो मे अभिव्यक्त क्रोध अधिक नूतन क्रोध सम्बन्धी कर्म-स्कंधो को निर्मित करने वाला बनेगा। अतः आवश्यक यह है कि उदयगत क्रोध-ऊर्जा का न निरोध किया जाय और न ही उसे पूरी तरह अभिव्यक्त ही किया जाय। बल्कि इस क्रोध-ऊर्जा को क्षमा के पुट से रूपान्तरित कर देना क्रोध का विधिवत् संक्षय कहलायेगा।

वैसे वैज्ञानिको ने अपने प्रयोगो से यह सिद्ध किया है कि विचारो तथा भाव-परिणामो की भी तरंगें तथा रूप व रग होता है। क्रोध का रूप भयावह तथा रग गहरा लाल माना गया है। इसकी तरगें मन को उद्वेलित करने वाली होती हैं। क्रोध की स्थिति मे मनुष्य किसी भी प्रकार पूर्णतया शान्त नही रह सकता है। क्रोध की अवस्था ऐसी होती है कि मनुष्य के अन्तःकरण मे उबाल उठता है जो उसके मन और तन को उत्तेजित तथा विकृत बना देता है। इस कारण इस अवस्था मे जो भी कार्य किया जाता है उसका रूप भी दूषित हो जाता है। आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसार क्रोध की ऐसी परिणति भी मानी गई है कि यदि क्रोध की अवस्था मे माता अपने बालक को स्तन पान कराती है तो वह बालक रुग्ण हो जाता है। क्रोध की अवस्था मे किया गया भोजन भी विष बन जाता है।

क्रोध : स्वरूप–समीक्षण

क्रोध की अवस्था अत्यन्त उग्रता और प्रचण्डता से आक्रान्त होती है और इसका आक्रमण कारण एव परिणामो के अनुसार कभी धीरे-धीरे और कभी अचानक होता है। एक बार इसका प्रभाव गहरा हो जाता है तो विरले ही इसके प्रभाव से अपने को बचा पाते हैं। काले नाग से जिसकी उपमा दी गई है, वैसे क्रोध के स्कंध लाल-लाल चिनगारियो के साथ विष-वर्षा करते हैं, एव ज्ञानादि-केन्द्रो को प्रभावित करते हुए कंठमणि के रस को अवरुद्ध कर देते हैं। परिणामस्वरूप शरीर मे विष ग्रंथियो का नियत्रण समाप्त सा हो जाता है और उनका रस भी शरीर मे व्याप्त होने लगता है। परिणामस्वरूप पहले प्रत्यक्ष दृष्टि मे आने वाली शारीरिक क्षतियाँ शुरू होती हैं क्योकि शरीर की अभिवृद्धि

एव उसका सपोषण तथा सरक्षण करने वाली अमृत रस वर्षी ग्रथियाँ अपने कार्य सुचारु रूप से करना वद कर देती हैं। विषवर्षी ग्रथियो के सक्रिय हो जाने से शरीर का सम्पोषक रक्त कुछ मात्रा मे तो जल जाता है तथा जो अवशिष्ट रहता है उसमे विष का प्रभाव पैदा हो जाता है। ऐसी स्थिति मे भयकर शारीरिक एव मानसिक व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

क्रोध का स्वरूप—समीक्षण करते हुए प्रत्येक साधक को गम्भीर चिन्तन करना चाहिये कि क्रोध क्यो उत्पन्न होता है ? क्रोध की अवस्था मे क्या क्षतियाँ होती है तथा क्रोध पर विजय कैसे प्राप्त की जा सकती है ? समीक्षण विधि से क्रोध का विश्लेषण प्रत्येक साधक को करते रहना चाहिये ताकि क्रोध के शमन एव सक्षय के सफल उपाय अपनाए जा सकें। जब तक क्रोध के स्वरूप एव उसके प्रभाव से होने वाली हानियो को अवलोकन करने का प्रयत्न नही किया जाएगा तब तक साधक के लिये क्रोध रूप महा चाडाल को परास्त करना शक्य नही बन सकेगा।

क्रोध-आन्तरिक सद्वृत्तियो के लिये अतीव घातक होता है, एक भयानक शस्त्र के समान। अनादि कालीन कर्म-सम्पर्क के कारण आत्मा की प्राय: सभी वृत्तियाँ विकार ग्रस्त बनी हुई रहती हैं। वृत्तियो का जिनकी वजह से वैकारिक रूप ढलता है, वे होते हैं काम-भोगो की विचारणा के केन्द्र। इन केन्द्रो व उप-केन्द्रो का पूरे शरीर मे जाल सा बिछा हुआ रहता है। शरीर के प्रत्येक अवयव मे काम तृप्ति की न्यूनाधिक रूप मे चेष्टा होती रहती है। जब किसी बाह्य तत्व को काम-दृष्टि मे देखने का प्रसग आता है तब लोभ के रूप मे रागवृत्ति का प्रादुर्भाव होता है। कामानुरजित लोभ की पूर्ति के लिये उस बाह्य तत्त्व को प्राप्त करने हेतु प्रत्येक सुलभ प्रयत्न किया जाता है। जब उन प्रयत्नो मे असफलता का भान होने लगता है, तब वह वृत्ति टेढा मेढा रूप बनाती है और द्वेष के विकारो से ग्रस्त बन जाती है। उन प्रयत्नो से यदि सफलता मिल जाती है तो उस समय मान का विकारी भाव जागता है।

अब अहकार ग्रस्त वृत्तियो पर किसी भी ओर से आघात होता है तो उस आघात पर प्रत्याघात करने के लिये क्रोध रूपी शस्त्र उभर कर आता है। यह शस्त्र पहले भीतर मे प्रकट होता है, फिर वह शरीर व्यापी बनकर बाह्य शस्त्रो को अपनाता है। कहा गया है—

क्रोध: प्राणहर. शत्रु:, क्रोधोऽमितमुखो रिपु:।
क्रोध' असि समुहातीक्ष्ण, तस्मात् क्रोध विवर्जयेत् ।।

क्रोध को प्राण हरण करने वाला अनेक मुखी शत्रु बताते हुए यही कहा गया है कि वह तेज धार वाली तलवार के समान है।

सहारक शस्त्र के रूप मे क्रोध

विश्व में विविध प्रकार के सहारक शस्त्रास्त्रो का अतीत मे जो निर्माण होता रहा है और वर्तमान मे हो रहा है उसके पीछे मूल मे क्रोध रूपी शस्त्र ही रहा हुआ है। यह शस्त्र उन समग्र आन्तरिक काम-वासनाओ से प्रभावित वृत्तियो का सरक्षण करने वाला होता है जो विभिन्न प्रकार की इच्छाओ से जागृत होती रहती हैं। ये वाहर की आयुधशालाएँ स्वत प्रेरित उतनी नही होती, जितनी कि बाहर से समझ मे आती है। इनकी जडें क्रोध के स्कधो मे होती हैं और वह क्रोध जिन रूपो मे फूटता है और वह जैसा माघातिक रूप लेता है, उसके अनुसार ही ये आयुधशालाएँ सहार की मारक प्रवृत्तियो मे नियोजित की जाती हैं।

सहारक शस्त्र के रूप मे क्रोध जिस प्रकार भीतर और वाहर विनाश का ताडव रचता है, उससे सर्वप्रथम आत्मा की शुद्ध वृत्तियो का ही नाश होता है। क्रोध उनको प्रतिशोध के विकार से रग कर कलुषित बना देता है। शुद्ध वृत्तियो के नाश से अभिप्राय उनके विकृत एव दूषित हो जाने से है। जैसे बेडियो से जकडकर किसी को कारागार मे डाल देने से उसकी जिस रूप मे बाह्य दशा देखी जा सकती है, वैसी ही आन्तरिक दशा का अनुमान क्रोध की अवस्था मे किया जा सकता है। उस समय क्रोध के सहारक शस्त्र के आघातो से परमात्मा के तुल्य आत्मा का अवमूल्यन हो जाता है। आन्तरिक शक्तियो का जिस रूप मे हनन क्रोध के शस्त्र से होता है, वह हनन आत्मा के ससार परिभ्रमण को अधिक जटिल तथा अधिक दु खदायक बना देता है। यह निकाचित बघ का एव बध की दीर्घकालीन स्थिति का भी कारण बनता है।

सहारक शस्त्रो के रूप मे आज विषमय रासायनिक शस्त्रो को मानवता विरुद्ध अत्यन्त जघन्य अपराध माना जाता है। लेकिन क्रोध के दुष्परिणाम उन शस्त्रो से कम भीषण नही हैं। क्रोध का विष मस्तिष्क के ज्ञान-तन्तुओ को शून्य बना देता है और अपनी तीव्रता के अनुसार उनको अधिकाधिक निष्क्रिय कर देता है। इस क्रोध को कई मेगाटन शक्ति वाला बम भी कह सकते हैं जो जहाँ गिरता है, वहाँ की आत्म-गुणो की उपजाऊ भूमि को नष्ट-भ्रष्ट कर डालता है। क्रोध के इस कुप्रभाव की विष-तरगें इस प्रकार फैल जाती हैं कि जो क्रोधी के तन-मन को दीर्घकाल तक स्वस्थ नही होने देती।

क्रोध एक प्रकार के ऐसे कर्म स्कधो का समूह होता है, जो उदय मे आने पर शरीर के अणु-अणु मे फैल जाते हैं और नवीन कर्मो का सचय करने लग जाते हैं। उस समय क्रोध की प्रबल शक्ति अग्नि ज्वाला की भाति उष्ण तरगें प्रवाहित करती है तथा शरीर की आकृति पर उसकी छाप स्पष्ट देखी जा सकती है। उस समय तो क्रोध के उस सहारक स्वरूप को स्थूल दृष्टि से भी देखा और

महसूस किया जा सकता है। क्रोध के इस वाह्य अभिव्यक्त स्वरूप के फोटोग्राफ भी लिये जा सकते हैं, ऐसा बताया जाता है। बाहर से क्रोध का जो यह उग्र स्वरूप दिखाई देता है, उसे उपचार से द्रव्य-क्रोध की संज्ञा दी जा सकती है। वस्तुत क्रोध-कर्म के स्कंध पौद्गलिक होने से द्रव्य क्रोध कहे गये है और उनके निमित्त से उत्पन्न होने वाला आत्मिक अध्यवसाय भाव क्रोध है। बाहर से नेत्रो की रक्तता, भृकुटि चढना, होठो का फडकना आदि जो उग्र या प्रचण्ड रूप दृष्टि-गोचर होता है, वह दोनो प्रकार के क्रोध का ही कार्य है। अतएव उसे भी द्रव्य क्रोध कहा जा सकता है। इन दोनो प्रकार के क्रोधो का बीजाकुर की तरह अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। ये परस्पर एक-दूसरे को उत्तेजित बनाते हुए विनाश-लीला की रचना करते हैं तथा सहारक स्वरूप को दिखाते हैं।

क्रोधोत्पत्ति के कारण

शास्त्रकारो ने क्रोध की उत्पत्ति के चार मुख्य कारण बताये है।

१—क्षेत्र—खेत, जंगल चरागाह आदि खुली भूमि सम्पत्ति,

२—वास्तु—अर्थात् मकान, दुकान आदि आच्छादित भूमि,

३—शरीर—अर्थात् अपनी काया एव

४—उपाधि—उक्त तीन के अतिरिक्त शेष सारी साधन सामग्री।

आशय यह है कि जड़ पदार्थों के सम्बन्ध मे जो-जो कामनाएँ उपजती हैं और उन कामनाओ के अनुसार जब व्यक्ति उन पदार्थों को प्राप्त करने की चेष्टा में लगता है, तब उन चेष्टाओं मे आने वाले आघातो के कारण पहले भीतर मे क्रोध की उत्पत्ति होती है और बाद मे बाहर उसके विविध रूप फूटते हैं। अत. मूल रूप मे यह कहा जा सकता है कि काम और कामनाओ की प्राप्ति के बीच मे आने वाली बाधाओ के कारण क्रोध अधिकाशतः उत्पन्न होता है। गीता के दूसरे अध्याय मे इसी के अनुसार कहा गया है—"कामात्क्रोधोऽभिजायते।" तथ्य यह है कि किसी प्रकार की सासारिक कामना ही क्रोध को आमत्रण देना है। ससारी आत्मा तो न जाने कितने प्रकार की कामनाओ मे ग्रस्त रहती है। ऐसी दशा मे क्रोध से दूर रहना बहुत ही कठिन कार्य होता है।

कामजयी ही क्रोधजयी हो सकता है। जो क्रोध को समीक्षण दृष्टि से देख लेता है और उससे दूर हटने का यत्न करता है वह तज्जनित इच्छाओ का भी धीरे-धीरे अन्त करने वाला बन जाता है। "इच्छा हु-आगाससमा-अणतिया" के अनुसार आकाश के सदृश इच्छाएँ अनन्त हैं। इच्छाओ के शमन का पुरुषार्थ क्रोध का शमन करने के पुरुषार्थ से जुड जाता है।

प्रकारान्तर से क्रोध की उत्पत्ति जिन वाह्य कारणो से उत्तेजना पाती है, उन्हे इस प्रकार गिनाया है—

१—**दुर्वचन**—कटु वचन को तलवार की धार की उपमा दी जाती है। तलवार का घाव तो कालान्तर मे शीघ्र भर जाता है लेकिन दुर्वचन का घाव दीर्घकाल तक हरा रहता है। इस दृष्टि से जब एक व्यक्ति किसी प्रकार के दुर्वचन दूसरे के प्रति उच्चारित करता है तो सुनने वाला साधारणतया क्रोध से तिलमिला उठता है।

२—**स्वार्थपूर्ति मे बाधा**. मन मे किसी उपलब्धि की कामना करके जब व्यक्ति उसकी पूर्ति हेतु बाह्य प्रयत्न प्रारम्भ करता है और अपने उस स्वार्थ को सफल बनाना चाहता है, तब उस के बीच जो भी बाधा उपस्थित करता है, उसके प्रति उग्र क्रोध भडक उठता है, क्योकि वह बाधा उसकी कामना पर आघात करती है।

३—**अनुचित व्यवहार**—जब कोई व्यक्ति अपने प्रति व्यवहार किये जाने की अमुक धारणा बना लेता है और सामने वाला जब उसके साथ उस धारणा की तुलना मे निम्न कोटि का व्यवहार करता है तो उससे वह व्यक्ति क्रुद्ध हो जाता है। धारणा के सिवाय व्यवहार के सामाजिक मानदण्ड भी होते हैं और उनकी अपेक्षा से भी व्यवहार की अनुचितता का निर्णय लिया जा सकता है।

४—**भ्रम**—कई बार सामने वाले का अनुचित व्यवहार करने का कोई इरादा नही होता और इसी प्रकार कई कार्यों मे अहितकारी आशय नही होता फिर भी व्यक्ति वैसा होने का भ्रम कर बैठता है। उस भ्रम से भ्रमित होकर भी क्रोधावेग के चक्कर मे फंस जाता है।

५—**विचारभेद या रुचिभेद**—प्राय. देखा जाता है कि कई व्यक्ति अन्य व्यक्तियो से अपने विचारो से भिन्न विचार अथवा अपनी रुचियो से भिन्न रुचियाँ सहन नही कर पाते हैं और उनकी सहनशीलता का वह अभाव क्रोध का कारण बन जाता है।

वास्तव मे क्रोधोत्पत्ति के समस्त कारणो को गिन पाना या गिनाना सम्भव नही है, क्योकि वे कारण विभिन्न व्यक्तियो, उनके सामने आने वाली विभिन्न परिस्थितियो, उनके कारण उत्पन्न आन्तरिक परिणामो तथा उनमे फूटने वाले वाह्य व्यवहार से सम्बन्धित होते हैं। एक व्यक्ति के सम्बन्ध मे ही इस रूप मे क्रोध के असख्य कारण हो सकते हैं तो सबसे सम्बन्धित कारणो की सख्या की सीमा कैसे बाधी जा सकती है? इसलिये कामना पर आघात को क्रोध की उत्पत्ति का मूल कारण मानना चाहिये।

क्रोध के प्रस्फुटित होने के प्रकार

क्रोध के प्रस्फुटित होने के प्रकार भी उपर्युक्त दृष्टि से सख्यातीत होते है, किन्तु उनका एक वर्गीकरण शास्त्रो मे इस प्रकार किया गया है —

१. आत्म प्रतिष्ठित

अपने ही दोष से सकट उत्पन्न होने पर अपने ही ऊपर क्रोध उत्पन्न होना (किसी भी उत्तेजक विचारणा के आधार पर क्रोध का प्रस्फुटन अपने भीतर से ही हो अर्थात् क्रोध भीतर ही प्रतिष्ठित हो और कारण पाते ही प्रस्फुटित हो जाय ।)

एक विद्यार्थी अपना परीक्षा फल श्रवण कर अत्यन्त व्यथित-व्याकुल वन गया। परीक्षा फल उसको उद्वेलित वना रहा था। क्रोध का वेग तीव्रता धारण कर रहा था कि इतना कठोर परिश्रम करने के उपरान्त भी वह कैसे अनुत्तीर्ण हुआ। इस दशा पर विचार करते-करते उसका क्रोधानल अधिकाधिक भड़क रहा था। हीन विचारो का शिकार बनता हुआ वह अपने जीवन को भार स्वरूप महसूस करने लगा। वह विचार करने लगा कि मैं अपना मुँह पारिवारिक जनो एव मित्रों को कैसे वताऊँ। मैं मुह वताने लायक नही रहा। अनुत्तीर्णता की व्यथा उसके मन-मस्तिष्क को झकझोर रही थी। आखिर वह क्रोध जनित सज्ञाहीनता मे इस निर्णय पर पहुँचा कि ऐसा जीवन जीने की अपेक्षा मरना ही श्रेष्ठ है। इस भावना के साथ वह वहां से आगे वढा—अपने निश्चय को पूर्ण करने। महरौली की कुतुवमीनार पर चढा और जीवन से हतोत्साह-निराश वना नीचे कूद पड़ा अपनी जीवनलीला को समाप्त करने। जीवन को समाप्त करने की यह दशा घोर अज्ञानतापूर्ण ही कही जाएगी। ऐसी अज्ञानता से भव-भ्रमण की शृ खला वढने के साथ ही दु.ख-द्वन्द्व की अवस्था अधिक प्रगाढ वनती है। यह घटना दिल्ली चातुर्मास के समय की है। यह स्वात्म प्रतिष्ठित क्रोध की दशा है।

२. पर प्रतिष्ठित

किसी अन्य व्यक्ति की उत्तेजना से क्रोध का प्रस्फुटन हो अर्थात् क्रोध अपने आप भीतर मे नही किन्तु अन्य व्यक्ति के किसी विचार या व्यवहार से जागे, तो वह क्रोध का पर-प्रतिष्ठित प्रकार कहलाता है।

एक साधक साधना के पथ पर गतिशील था। तपस्या में ही अपने जीवन को सयोजित करके चल रहा था किन्तु उसके अन्तर मे क्रोध की ज्वाला धधक रही थी। उसके शमन की ओर उसका लक्ष्य नही वन पा रहा था। तप के पारणे के दिन गुरु महाराज के समक्ष उत्तेजित होकर कहने लगा—"आज मेरे तेले यानी अष्टम भक्त का पारणा है। आज्ञा हो तो भिक्षार्थ जाऊँ ?'

शिष्य की बात श्रवण कर गुरु महाराज शान्त भाव से मधुर शब्दो मे उसे कहते हैं—"शिष्य, पतला कर।"

शिष्य गुरु महाराज का आशय न समझने के कारण विचार करने लगा कि गुरु महाराज मेरी शारीरिक स्थूल दशा को पतला करने का सकेत फरमा रहे हैं। ऐसा सोच पुन: तपाराधना मे लग जाता है। इस तरह तपश्चरण करते-करते शरीर शुष्क बन गया, अन्त मे वह सथारे का आग्रह करने लगा। किन्तु पुन.-पुन: गुरु महाराज का एक ही संकेत बार-बार सुनता रहा। इसे सुन-सुन करके उसका क्रोध भडक उठा, मस्तिष्क का संतुलन टूट गया और वह विवेक विकल बना उसी संज्ञा शून्य दशा मे अपने ही हाथ से अपनी अंगुली मोड कर गुरु महाराज पर फेंकते हुए क्रोधावेश मे, तीव्र रोष भरे स्वर मे कहने लगा—"अब मैं क्या पतला करू । मेरा शरीर तो इतना पतला जीर्ण-शीर्ण शुष्क हो चुका है। मुझसे आप क्या चाहते है ?" आदि आदि।

गुरु महाराज ने मुस्कराते हुए, शान्त भाव से मधुर स्वर मे कहा—"तुमने इस देह को तो शुष्क कर लिया, किन्तु तुम्हारे अन्तरग मे कषाय का रस प्रगाढता लिये हुए है। उसे पतला करो।" यह दशा परप्रतिष्ठित क्रोध की है।

३ तदुभय प्रतिष्ठित

इस प्रकार पहले तथा दूसरे प्रकारों का मिश्रित रूप है। अपने और दूसरे के किसी विचार या व्यवहार के कारण जो क्रोध जागे, वह तदुभय प्रतिष्ठित कहलाता है।

प्रणय के पाश मे बधा एक नव-विवाहित युवक ससुराल पहुँचा पत्नी को लेने। युवक का स्वभाव तेज-तर्रार था। उसका वहा आदर-सत्कार हुआ। जब उसने पत्नी को साथ भेजने के लिये कहा, तब उसके श्वसुर ने दिशाशूल, वार वगैरह अनुकूल न होने से इन्कार कर दिया। इन्कार करते ही उसके क्रोध का पारा आसमान को छूने लगा। कहने लगा—"मैं पुन नही आऊगा, दूसरी शादी कर लूगा।" शान्ति से समझाने पर भी वह नही माना तब श्वसुर साहब के मुंह से निकल गया—"अभी नही भेजेंगे। आप पुन नही आयेंगे तो यही समझ लेंगे कि पुत्री विधवा हो गई।" यह सुनते ही वह क्रोध मे बेभान बन गया। बोला—"अब मैं आपकी पुत्री को विधवा बना कर ही रहूँगा। उपाय सोचते हुए वहा से निकला और क्रोधावेश मे आत्मघात का निर्णय कर कुए मे गिर पड़ा। निश्चय की सम्पूर्ति हेतु ऐसी स्व-पर दाहक क्रोध की अवस्था को तदुभय प्रतिष्ठित क्रोध की सज्ञा दी गयी है।

४. अप्रतिष्ठित

जो क्रोध किसी अन्य व्यक्ति के अथवा अपने निमित्त से न उत्पन्न होकर

क्रोध कषाय के उदय मात्र से सहसा भड़क उठे, वह क्रोध का अप्रतिष्ठित प्रकार माना गया है। इस प्रकार विना किसी निमित्त के ही प्रस्फुटित हो जाता है।

इन चारों प्रकार के क्रोधों मे उपादान कारण आत्मा है, क्योंकि क्रोध-रूप परिणति आत्मा की एक अवस्था है। निमित्त कारण दो प्रकार के होते हैं। अन्तरंग और वहिरग। क्रोधो का अन्तरग निमित्त कारण क्रोध कषाय-चारित्र मोहनीय का उदय है। यह भी सव मे समान नही होता है। हाँ, वहिरग निमित्त कारण पृथक्-पृथक् हैं और इसी के आधार पर यह वर्गीकरण किया गया है। प्रथम प्रकार के क्रोध में आत्मा, दूसरे मे आत्मातिरिक्त कोई अन्य सजीव या निर्जीव पदार्थ, तीसरे प्रकार मे दोनो और चतुर्थ प्रकार अतरग निमित्त कारण से ही उत्पन्न हो जाता है।

कभी-कभी इन कारणो मे सम्मिश्रण भी हो जाता है, तथापि प्रधानता-गौणता की विवक्षा करने से यह वर्गीकरण समीचीन ही है।

एक योगी महात्मा अपने शिष्य परिकर के साथ भू-मण्डल पर विचरण कर रहे थे। वे शान्त प्रकृति एवं सौम्य आकृति के थे। जीवन मे सयम की साधना और तप-आराधना सम्यक् रूपेण कर रहे थे। क्रोध को तनु-तनुतर करते हुए अन्तरात्मा का दिव्यानन्द ले रहे थे।

शिष्यों को भी समय-समय पर यथायोग्य सयमानुकूल शिक्षा देते रहते। शिक्षा को श्रवण कर प्राय शिष्य हर्षोल्लास का अनुभव करते और आभार व्यक्त करते। पर वे समभाव के साथ राग-द्वेष को परे करते हुए चल रहे थे। एक शिष्य को वह शिक्षा त्रिशूल की भाति खटकती, द्वेषोत्पादक वनती। वह सोचने लगता कि क्या हम से ही स्खलनाए होती है, गुरु महाराज से नही ? वह प्रतिशोध लेने हेतु छिद्रो का अन्वेषण करता रहता। एक दिन उपयोगपूर्वक चलते हुए भी गुरु महाराज से कुछ असावधानी हो गई। शिष्य रास्ते मे ही चिल्लाने लगा और गुरु महाराज को प्रायश्चित्त के लिए वाध्य करने लगा। गुरु वस्तुस्थिति समझ उपेक्षा पूर्वक शान्तभाव से आगे बढे, और उपाश्रय पहुँचे, सध्या का प्रतिक्रमण किया। आलोचनादि श्रवण कर रहे थे। तभी वह जोर से बोल उठा—"आप अपनी गलती का प्रायश्चित्त कर लीजिये।" इस वात को पुनः-पुन जोर-जोर से दुहराने लगा। आखिर समता एव धैर्य का वाध टूटा और गुरु भी क्रोधोन्मत्त वन गये। उन्होंने जीवन की परिसमाप्ति कर डाली। यह है क्रोध की अप्रतिष्ठित दशा का भयकर परिणाम।

क्रोध प्रस्फुटित होने के प्रकारों मे एक अन्य वर्गीकरण का संकेत भी शास्त्रो मे मिलता है। उस वर्गीकरण के चार प्रकार हैं—

१. आभोगनिवित्तए (आभोगनिर्वर्तित)

कामनायुक्त भोग्य पदार्थों की प्राप्ति मे बाधाओ के कारण क्रोध का फल जानते हुए भी जो क्रोध प्रस्फुटित होता है, वह अभोगनिवित्तए-आभोगनिर्वत्तित कहलाता है, अर्थात् भोगेच्छाओ की पूर्ति के निमित्त फल-ज्ञान के उपरान्त भी प्रस्फुटित होने वाला क्रोध।

२, अणाभोगनिवित्तए–अनाभोग निर्वत्तित

इसमे भोगेच्छाओ की पूर्ति के निमित्त से प्रस्फुटित होने वाले क्रोध के साथ फल-ज्ञान नही होता। क्रोधी यह नही जानता कि उसके क्रोध करने का उसे क्या फल भोगना पडेगा।

३. उवसंत–उपशान्त

जो क्रोध अभी तक उदय मे नही आया, सत्ता मे ही विद्यमान रहता है, वह उपशान्त क्रोध कहलाता है। क्रोध का यह प्रकार उपशान्त दशा मे रहता है। क्रोध भीतर ही भीतर उमड़ता-घुमडता है, किन्तु क्रोध करने वाला उसे बाहर प्रकट नही होने देता है। बाहर से उस क्रोधी का ऐसा रूप दिखाई देता है, जैसे-कि उसे किसी पर कोई क्रोध नही है।

४. अणुवसंतए–अनुपशान्त

जो क्रोध उदय मे आ चुका है वह अनुपशान्त कहा जाता है। जब यह क्रोध तीव्र रूप मे प्रस्फुटित होता है तो उसे उपशान्त करने का कोई प्रयत्न नही होता है। क्रोध करने वाला अपने क्रोध को खुले रूप मे बाहर प्रकट होने देता है।

मूल रूप मे क्रोध-स्कधो का सम्बन्ध आत्म-तत्त्व के साथ है। जब तक क्रोध-कषाय का क्षय नही हो जाता, प्रकारान्तरो से वह भीतर और बाहर प्रस्फुटित होता रहता है। इस प्रकार ससारी आत्माओ की नानाविध वृत्तियो, प्रवृत्तियो तथा अनेक प्रकार के निमित्तो के अनुसार बनते, बदलते और नये-नये रूपो मे ढलते रहते हैं। क्रोध की संलग्नता से मानव-हृदय छोटी-छोटी घटनाओ के प्रभाव से भी आन्दोलित हो उठता है।

क्रोध के घातक दुष्परिणाम

एक साधक अति कठिन साधना कर रहा था। वह अत्यल्प वस्त्र रखकर शीत-ताप सहन करता, कभी-कभी अनशन करता और भी अत्यल्प भोजन से अपना निर्वाह चलाता। वह सोचा करता—ये सासारिक लोग किस तरह भोगोपभोग की लालसाओ मे फंसे हुए हैं? एक दिन लोगो को साधक की साधना की जानकारी हुई तो वे श्रद्धाभाव से जरी की–रेशम की मालाए लेकर वहाँ पहुचे और साधक का सम्मान करने लगे। एक श्रद्धालु ऐसा था जो बहुत

ही गरीब था। वह कोई कीमती माला नही जुटा सका। उसे तो अपनी श्रद्धा प्रकट करनी थी अतः कच्चे सूत की ही एक माला बनाकर वह भी साधक के पास पहुँच गया। उसने भी अपनी माला साधक को अर्पित कर दी। साधक का उपशान्त क्रोध यह देखकर भड़क उठा कि शोभनीय मालाओ के बीच यह कैसी अशोभनीय माला ?

अमृत-वचन निकालने वाला वह साधक तब अपने उपदेश-प्रवाह मे कहने लगा—कुछ लोगो मे श्रद्धा नाम मात्र को भी नही रहती। वे महात्माओ का अपमान करने चले आते हैं। ध्यान रखिये कि ऐसे लोगो को नरक मे भी स्थान नही मिलता है। साधक का क्रोध फूट रहा था, उस गरीब श्रद्धालु पर, किन्तु वह तो अपनी श्रद्धा के अतिरेक मे आनन्दित हो रहा था। इस प्रकार श्रद्धालु का हृदय तो श्रद्धा के दीपक से प्रदीप्त था किन्तु साधक का हृदय क्रोध की ज्वाला मे जल रहा था। एक साधक की दीर्घकालीन साधना क्रोध की आग मे पल भर मे भस्म हो जाय, इससे अधिक क्रोध का घातक दुष्परिणाम और क्या हो सकता है ?

'गौतम कुलक' मे कहा गया है—

"कोहाभिभूया न सुहं लहंति।"

अर्थात् क्रोध से पराजित व्यक्ति कभी सुख नही पाते। इसका मुख्य कारण है कि क्रोध अग्नि की ज्वाला के समान होता है। जो भी इसके सामने आता है, उसको जला देने की चेष्टा करता है। सामने आने वाला भले इससे जले या न जले, किन्तु क्रोध करने वाला तो इसमे बुरी तरह जलता और झुलसता ही है। क्रोधाग्नि एक प्रकार से स्व-पर-दाहक होती है। क्रोधी स्वयं भी जलता है तो अपने ताप से दूसरो को भी अनुतप्त बनाता है।

उसका मन जलता है जो क्रिया-प्रतिक्रियाओ के उतार-चढाव मे न जाने कितना कलुष संचित करता रहता है। उसका तन जलता है—अपने समस्त अवयवो से शक्ति-हीन, रुग्ण और जर्जरित बनता जाता है। सर्वोपरि उसकी आत्मा के मूल सद्‌गुण धू-धू कर जल जाते हैं और रह जाता है, दुर्गुणो-का अनियन्त्रित समुदाय! जो आत्म शक्ति को सासारिकता की दासी बनाकर रख देता है।

क्रोध जब इस प्रकार की अनेकानेक विकृत वृत्तियो का जनक बन जाता है तो वह आत्मा को अपनी मुट्ठी मे कैद कर लेता है, जिससे वह अपने मूल गुणो की रक्षा मे अपनी शक्ति का प्रयोग करने मे अक्षम बन जाय। ऐसी अवस्था में आत्मा तेजोहीन, मन असन्तुलित तथा शरीर जीर्णशीर्ण बन जाता है। बुद्धि का स्रोत भी कुण्ठित हो जाता है जिसके कारण हिताहित अथवा कर्तव्याकर्तव्य सूझ

नही पडता। थायराइड आदि अमृत वर्षी ग्रथियो का कार्य भी अवरुद्ध हो जाता है। क्रोधाविष्ट व्यक्ति की विचारधारा स्वार्थपरायण बन कर नवीन स्फुरणाओ को ग्रहण करने मे अयोग्य हो जाती है। शनै -शनै उसकी विचारधारा का प्रवाह ही विषाक्त बन जाता है। इस विषाक्तता से सर्वाधिक हानि आत्मा के मूल गुणो अर्थात् आ तरिक सद्गुणो की ही होती है। किसी भी अतिशय क्रोधी व्यक्ति के जीवन मे ऐसे सद्गुण विलुप्त से हो जाते है।

यह भी एक प्रकट तथ्य है कि क्रोधी अपने जीवन के सारभूत सद्गुणो को नष्ट करने के साथ अपने आस-पास के वातावरण मे भी जहर भरता है और अपने व्यवहार मे आने वाले लोगो के दिलो मे भी जहर की झाडियाँ उगाता है। उसका स्व-पर-दाहक स्वरूप तब सबके सामने भलीभांति उजागर हो जाता है। आत्मा के मूल गुणो की विलुप्ति के साथ उसके आचरण मे कई अन्यान्य दुर्गुणो का समावेश भी हो जाता है। क्रोध से उत्पन्न दुर्गुणो का दुष्परिणाम रूप वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है—

१. परनिन्दा

क्रोधी व्यक्ति अपने चरित्र को देखना और समझना तो भूल जाता है परन्तु दूसरो की अधिकाशत· झूठी निन्दा करने मे कुशल बन जाता है। उसके स्वभाव की यह विकृति उसे असामाजिक बना देती है।

२. दुःसाहस

क्रोध के अपने दुर्गुण को क्रोधी अपना बल मान लेता है जिसके कारण भद्र व्यक्ति उससे दूर रहते हैं। वह उन्हे अपने से भयभीत समझ लेता है। इस कुविचार के कारण क्रोधी व्यक्ति दु साहसी भी हो जाता है। वैसे दु साहस का वह कुफल भुगतता रहता है लेकिन क्रोधावेश के कारण सचेत नही बनता है।

३. वैर

अपने क्रोध के कारण वह उन व्यक्तियो का भी वैरी हो जाता है जो उसे अपनी सदाशयता के कारण क्रोध से विलग होने की सत्शिक्षा देने का प्रयास करते हैं।

४. जलन

क्रोध की अग्नि ईर्ष्या का रूप धारण करके भी जलाती है और उस जलन मे क्रोधी अन्य किसी की उन्नति को फूटी आखो भी नही देख पाता है।

५. दोष-दर्शन

क्रोधी अकारण ही दूसरो की प्रवृत्तियो मे मन·कल्पित दोष आरोपित करता है और अपने प्रति रही हुई दूसरो की सहानुभूति खोता रहता है।

६ दुष्ट ध्यान

क्रोधी सदा दूसरो का अहित-चिन्तन करता है और तरह-तरह की विचारणाओ मे क्रूर कल्पनाए करता रहता है।

७ कठोर वचन

मन की क्रूर विचारणाए वचन की कठोरता मे प्रकट होकर सबका दिल दु.खाती है।

८. क्रूर व्यवहार

मन का दुष्ट ध्यान वचन की कठोरताओ के साथ व्यवहार की क्रूरता मे फूटता है तो क्रोधी सबको अपना शत्रु बना लेता है।

वस्तुत पागल हो जाता है क्रोधी

मनोवैज्ञानिक क्रोध को अस्थायी पागलपन कहते है। क्रोधी को पागल की उपमा इसी कारण दी जाती है कि वह अपनी उत्तेजना की अवस्था मे वास्तव मे पागल ही हो जाता है। क्योकि वह सत्-असत् विवेक से विकल, कर्तव्य-अकर्तव्य की मीमासा मे मूढ एवं मर्यादाओ के अतिक्रमण मे उद्दण्ड हो जाता है। उसके हृदय मे स्नेह एव प्रेम की धारा सूख जाती है, उदारता एव सहिष्णुता की भावनाए समाप्त—प्राय. हो जाती हैं तथा सहानुभूति एवं सहयोग की प्रवृत्ति भी दब जाती है। वह तो दुष्ट भाव, कठोर वचन तथा क्रूर व्यवहार का स्वामी बन कर पागलो की श्रेणी मे चला जाता है। वह अपने इसी पागल-पन से अपने सम्बन्धियो, मित्रो एव स्नेहियो को अपने शत्रु बना लेता है। उसका स्वय का जीवन उसी के लिये भारस्वरूप बन जाता है। वह अपने गृहस्थ जीवन मे भी तरह-तरह के सकटों से घिर जाता है। उसके दुर्व्यवहार से उसकी आय के स्रोत सूखने लगते हैं और गृहस्थोचित व्यवहार से भी वह सबकी ओर से वचित हो जाता है।

क्रोध के दूरगामी परिणाम आत्मा को विविध कर्म बन्धनो से बाधते हैं, जिससे चौरासी लाख जीव योनियो मे उसका भव-भ्रमण निरन्तर चलता रहता है। वह कई बार निकाचित कर्मो का फल भोगते समय अपने आपको असहाय-सा महसूस करता है कि जैसे—अब वह कर्मों की शृंखलाओ को तोड देने से अक्षम होता जा रहा है। विकारी वृत्तियो के जटिल जाल में फसा हुआ होने के कारण किसी की सत्सहायता का भी वह लाभ नही उठा पाता है। कभी भावना का हल्का-सा झोंका आता है और वह उस जाल को तोड़कर बाहर निकलने के लिये एक कदम उठा भी लेता है तो फिर आगे का कदम नही उठता और पुन. वह

उसी जाल मे फस जाता है। जैसे गहरे कीचड मे से हाथी का बाहर निकलना कठिन हो जाता है वैसे ही विकारो के कीचड मे से आत्मा सरलतापूर्वक बाहर नही निकल पाती है। कदाचित् किसी सत्सगति के फलस्वरूप भावना का प्रबल झौंका आ जाता है तो ही वह उसे विचारो के कीचड मे से बाहर निकाल पाता है।

क्रोधी का पागलपन भी थर्मामीटर के पारे की तरह ऊपर-नीचे होता रहता है। क्रोध की तीव्रता एव मदता के परिणामस्वरूप ही कर्मबध की अवधि भी घटती और बढती रहती है। उसका अनुभाग भी न्यून या तीव्र, तीव्रतर व तीव्रतम होता रहता है। क्रोध-विष का प्रभाव अगो के सक्षय रूप मे परिलक्षित होता है किन्तु उससे मुख्यत आत्म-गुणो का ही सक्षय (दबना) होता है। ऐसी अवस्था मे जीवन की दशा दयनीय बन जाती है। आत्महीनता से उसका मस्तिष्क कुठाग्रस्त हो जाता है और तरह-तरह के तनावो से भर जाता है। ऐसे क्रोधी के लिये शारीरिक कष्टो की तो सीमा ही नही रहती है। वह इहलोक मे दु.खी होता है और परलोक को भी दु खी बनाता है। उसका समूचा आत्म-स्वरूप एव जीवन क्षति-विक्षतियो से आकीर्ण और कटुतामय एव कलुषितता से मलीन बन जाता है। क्रोधरूपी महाचाडाल को मन मे बसा लेने पर क्रोधी स्वयं महाचाडाल हो जाता है।

विष-तरगो का प्रवाह

क्रोध रूपी विष की तरगे, जब किसी व्यक्ति की आत्मा, तन और मन मे प्रवाहित होने लगती है तो वह सभी ओर से अपने जीवन-विकास की सम्भावनाओ को गंवा देता है। अपनी आत्मा के मूल गुणो को वह दबा देता है और अपने विवेक को शून्य-बिन्दु तक पहुँचा कर सज्ञाहीन-सा बन जाता है। इस सज्ञाहीनता का तब उसके जीवन पर व्यापक प्रभाव पडता है जब उसका सूक्ष्म नाडी तत्र भी क्षत-विक्षत हो जाता है।

विष-तरंगो के प्रवाह मे बहता हुआ, क्रोधी मनुष्य इस तथ्य का चिन्तन नही कर पाता है कि वह अपने क्रोधावेग के कारण वर्तमान जीवन मे भी कैसी-कैसी हानियो का शिकार बन रहा है। वह यह भी नही जान पाता कि उसके शरीर के महत्त्वपूर्ण सारयुक्त तत्त्व नष्ट हो रहे हैं और मस्तिष्क का सूक्ष्म नाडी तत्र भी आघातो से जर्जर बन रहा है। उसकी चिन्तन क्षमता का भी ह्रास होता चला जाता है। एक क्रोधी व्यक्ति अपनी विवेक शून्यता से जीवन का सन्तुलन बिगाड़ लेता है तो अपने शरीर को "ब्रेन–हेमरेज", रक्त-चाप, लकवा आदि भयकर रोगो के आक्रमण के लिये खुला छोड देता है।

रक्त-चाप जैसे रोग अधिकाशत: क्रोधी व्यक्तियो को होते हैं। भादसोडा (मेवाड) की सत्य घटना है। मन्दिर की एक शिला को लेकर दो भाइयो के

बीच उग्र विवाद हो गया। फलत. क्रोधावेश की अधिकता के कारण एक भाई को ब्रेन हेमरेज हो गया और वह मृत्यु-मुख मे चला गया। इंग्लैण्ड की एक घटना है। घुडदौड की प्रतियोगिता चल रही थी। उसमें एक घुडसवार को पक्की उम्मीद थी कि वही जीतेगा। किन्तु वह उस समय क्रोधावेग से कापने लगा जब उसका प्रतिपक्षी जीत गया। वह भीतर ही भीतर क्रोध से घुटता हुआ अपने घर पहुँचा। उसकी पत्नी उसके स्वभाव को पहचानती थी। जैसे ही उसने अपने पति का वह रौद्र रूप देखा, तुरन्त उसने डाइनिंग टेबिल उसकी पसन्द के विविध व्यजनो से सजा दी जिससे वह खाने में जुटकर अपने गुस्से को भूल जाय। किन्तु उस रोज उसके मस्तिष्क में क्रोध की विप-तरगो का प्रवाह माघातिक रूप से वह रहा था। उसने वह क्रोध अपनी पत्नी पर घातक रूप से निकालना चाहा। नाजुक स्थिति देखकर पत्नी ने उसे कमरे में बन्द कर दिया तो उसने अपना गुस्सा अपने पर ही निकालना शुरू कर दिया और वह बुरी तरह से घायल हो गया।

क्रोध की विप-तरगो से ग्रस्त व्यक्ति न अपने घर मे अपना रहता है और न ही अपने धंधे या पेशे को लाभ व लोकप्रियता के साथ चला सकता है। वर्तमान जीवन से सम्बन्धित क्रोध की हानियो का दृश्य देखने चलें तो स्थान-स्थान पर ऐसे दृश्य देखने को मिल सकते हैं।

इन विप तरगो के प्रबल प्रवाह के क्षणो मे यदि आगामी जन्म की आयु का बंध होने का अवसर आ जाय तो क्रोधी व्यक्ति सर्प योनि अथवा वैसी ही क्रोध प्रधान किसी अन्य योनि मे जन्म लेता है और पूर्व जन्म के कुसस्कारो से ग्रस्त रहता है।

अनेक असहिष्णुताओ का जनक—क्रोध

समीक्षण दृष्टि से जब अवलोकन किया जायगा तो स्पष्टत. देखा जा सकेगा कि स्थान-स्थान और समय-समय पर क्रोध के कारण कई प्रकार की असहिष्णुताओ का जन्म होता है और उनके प्रभाव से परिवार, समाज, राष्ट्र तथा विश्व मे भांति-भांति के टकराव और संघर्ष उत्पन्न होते रहते हैं।

सहिष्णुता को आत्मा का एक महत्त्वपूर्ण सद्गुण माना गया है। सहिष्णुता के आश्रय से ही अन्य कई सद्गुण इस जीवन मे प्रकट होकर पल्लवित एव पुष्पित होते हैं। ऐसे महान् सद्गुण सहिष्णुता पर ही क्रोध का सबसे कठोर आक्रमण होता है, जिसके फलस्वरूप सद्गुण नष्ट होते चले जाते हैं और दुर्गुण पनपने लगते हैं। क्रोध इस रूप में दुर्गुणो का सर्जक तथा सहिष्णुता व उसके सहयोगी सद्गुणों का विध्वंसक सिद्ध होता है।

जब सहिष्णुता जाती है तो क्षमा गुण का भी लोप होने लगता है। मुनि जीवन का प्रथम धर्म ही क्षमा माना गया है, क्योंकि इसी गुण के बल पर मुनि इन्द्रिय विषयो से सम्बन्धित विकारो तथा मन की चचल दौडो पर नियत्रण रखने मे समर्थ होता है। क्षमा को रीढ की हड्डी के समान आधारभूत गुण माना गया है और यदि मुनि क्रोध के वश मे हो जाय तो वह अपने आधार को ही खो देने की स्थिति मे पहुँच जाता है। सहिष्णुता और क्षमा एक से धरातल पर पनपने वाले सद्गुण हैं। क्रोध का आवेग उन्हे समान रूप से क्षतिग्रस्त बना देता है।

क्रोध से उत्पन्न होने वाली प्रमुख असहिष्णुताएँ निम्न हो सकती हैं —

१. मानसिक असहिष्णुता

मनोवर्गणा से निर्मित द्रव्य मन जब भाव मन की आधारशिला पर दृढ से दृढतर बनता हुआ कार्यरत होता है तभी वह सफलता प्राप्त करता है। मन की भूमि पर ही संप्रेषण, सग्राहक आदि शक्तियाँ उर्वरित होती है, जिनके अत्युच्चय विकास की दशा मे भीतर के अवस्थानो तक पहुँच पाने मे सुगमता हो जाती है। तब भीतर से फैला हुआ मानस तत्र सदा सक्रिय बना रहता है। इसी प्रकार निरन्तर अन्तर्यात्रा मे व्यक्ति आगे बढता रहे तो प्राण शक्ति की वृद्धि के साथ द्रव्य मन की क्षमता भी अभिवृद्ध बन जाती है जिसके बल पर आन्तरिक अवस्थानो तक पहुँच पाने की शक्ति का अर्जन और सर्जन पर्याप्त मात्रा मे होता है। किन्तु ऐसी मानसिक सुव्यवस्था पर क्रोध का ऐसा मारक प्रहार होता है कि समूचा तन्त्र छिन्न-भिन्न हो जाता है। क्रोध के बार-बार के प्रहारो से तो द्रव्यमन की सामान्य क्षमता भी नष्ट होने लग जाती है। सारा तन्त्र शिथिल सा हो जाता है और विवेक शून्यता के साथ मानसिक तनाव तथा चिडचिडापन बढने लगता है। इससे जीवन मे विशेष प्रकार की दुर्बलता व्याप्त हो जाती है।

मानसिक असहिष्णुता से व्यक्ति स्वय की ऊर्जा का भी सदुपयोग नही कर पाता है। परिणाम इस रूप मे सामने आते हैं कि वैसा व्यक्ति अपने आप से असन्तुष्ट, हतोत्साह तथा अकर्मण्य होता चला जाता है। उसकी मिथ्या अहकार-वृत्ति इतनी उभर आती है कि जरा-सी भी प्रतिकूल बात सुनकर वह क्रोध से तमतमा जाता है और अनुकूल बात मे भावातिरेक से स्वय को भूल जाता है। वह अकरणीय को पहले कर तो लेता है लेकिन फिर पश्चात्ताप की भट्टी मे झुलसने लगता है। क्रोधावेग मे दूसरो के प्रति अभद्रता एवं अशिष्टता का व्यवहार करके अपने ही पैरों पर कुल्हाडी मारता रहता है क्योकि वह हर वक्त अपनी ही मानसिक असहिष्णुता से ग्रस्त बना रहता है। इस ग्रस्तता से वह

अपना अहित करता है, परिवार के साथ शान्ति से नही रह पाता है तो समाज मे भी दुर्व्यवस्था लाने का माध्यम बनता है। वह इस प्रकार समाज-विरोधी बन कर छल, कपट, धूर्तता आदि अनेकानेक दुर्गुणो को अपनाता हुआ आत्म-विरोधी भी बन जाता है। उसके ऐसे दुर्गुण चारो ओर फैलते हुए ग्राम, नगर एव राष्ट्र आदि को भी कलुषित बनाते हैं।

कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि एक व्यक्ति की मानसिक असहिष्णुता सारे विश्व को महाविनाशकारी युद्ध मे झोक देती है। वर्तमान परिस्थितियो मे तो यह खतरा अधिक स्पष्टता से समझा जा सकता है। यदि किसी शक्तिशाली राष्ट्र का नायक मानसिक असहिष्णुता से ग्रस्त होकर अपना सन्तुलन खो दे और परमाणु शस्त्रो का ताण्डव नृत्य शुरू कर दे तो क्या सारा विश्व जल नही उठेगा ?

मानसिक असहिष्णुता से जब नैतिकता भी नष्ट हो जाती है, तो अध्यात्म मार्ग के श्रुतधर्म एव चारित्र धर्म के विकास की तो कल्पना ही कैसे की जा सकती है ?

२ वैचारिक असहिष्णुता

विचारो के सृजन का केन्द्र मस्तिष्क है। लेश्याओ से अभिरजित चित्त-वृत्तियां इसी केन्द्र स्थल से सयुक्त होती हैं। तब चित्त-वृत्तियो की विभिन्नताओं मे से एक जातीयता का स्वरूप बनता है। उसमे जब तुलनात्मक अवस्था से चित्त-वृत्तियो का उतार-चढाव होने लगता है तब विचार प्रवाह की सरिता बहने लगती है। उस सरिता का प्रवाहक मुख्य रूप से विचार केन्द्र बनता है। उस केन्द्र के साथ ज्ञान वाहक नाडी-समूह जुडकर कार्यरत होने लगता है तथा विचारो के परस्पर प्रतिपक्षी स्वरूप के सकल्प विकल्पात्मक बनावट का निर्माण होता है। उस अवस्था मे मनुष्य के विचार केन्द्र ज्ञानवाहक नाडियो से विचारो को वहन करने मे सक्रिय हो जाते हैं तब दोनो के बीच मे एक निर्णायक शक्ति का विकास भी होता है जो केन्द्र-कार्यों के सम्बन्ध मे विभिन्न प्रकार के निर्णय लेने मे सफल होती है। तदनन्तर निर्णीत विचार प्रवाह यथायोग्य 'ग्लेण्ड्स" को प्रभावित करता है। फिर अगली रासायनिक प्रक्रियाओ के माध्यम से मन आदि तत्त्वो मे व्यवहृत होता हुआ वचन के माध्यम से निर्णीत विचार प्रवाह प्रकट होता है। उस बाहर आये विचार प्रवाह को श्रोतागण हिताहित की कसौटी पर कस कर तुलनात्मक दृष्टि से परखते हैं और उसे व्यापक कल्याण की भावना से तोलते हैं।

उस निर्णीत विचार-प्रवाह की बाहर जो प्रतिक्रिया होती है, वह पुनः श्रोत्रेन्द्रिय आदि के माध्यम से विचार प्रणेता के मस्तिष्क मे प्रवेश करती है।

तब वह मस्तिष्क के विचार केन्द्र को आन्दोलित बनाती है। उस समय मस्तिष्क मे कार्यरत विचार केन्द्र एव उसका सहयोगी नाड़ी तन्त्र यदि सक्षम और सन्तुलित रहे तो वे उस प्रतिक्रिया का समीचीन समाधान अपने नये निर्णय के रूप मे निर्मित कर सकते है किन्तु ऐसे समय मे यदि क्रोध का आक्रमण हो जाय और वह घातक सिद्ध हो तो विचार केन्द्र तथा नाड़ी केन्द्र का सन्तुलन टूट जाता है तथा क्षमता मद हो जाती है और समीचीन समाधान सामने नही आ पाता। तब वैसा व्यक्ति अपने पहले के विचार को ही पूर्ण उचित कहने लगता है और आलोचना सुनना वन्द कर देता है। इस रूप मे वैचारिक असहिष्णुता जन्म लेकर व्यक्ति के जीवन मे पुष्ट रूप लेने लगती है।

वैचारिक असहिष्णुता विचारो के स्वस्थ विकास को अवरुद्ध कर देती है और विचारो मे "हठवाद" को ऊपर ले आती है। वह असहिष्णुता इस रूप मे स्व-पर जीवन के लिये अहितकर और अलाभप्रद बन जाती है। यह वर्तमान एव भावी जीवन के दुःखो का हेतु भी वन जाती है।

३ परगुण-असहिष्णुता

गुण शब्द अनेक अर्थों मे व्यवहृत होता है। मुख्यतया किसी द्रव्य का वह अश, जो उस द्रव्य मे त्रिकालस्थायी होकर रहता है और उस द्रव्य की विशिष्टता वतलाता है, गुण शब्द से कहा जाता है। तात्विक दृष्टि से सक्षेप मे दो तत्त्वो मे समग्र वस्तुओ का समावेश हो जाता है। वीतराग के सिद्धान्तानुसार ये दो तत्त्व हैं—चेतन और जड। वेदान्त दर्शन मे इन्हे ही ब्रह्म और माया के नाम से पुकारा गया है। साख्य दर्शन पुरुष और प्रकृति के रूप मे इन दो तत्त्वो का आख्यान करता है। प्रायः अन्य दर्शनो मे भी नामो के परिवर्तन के साथ इन्ही दोनों तत्त्वो का निरूपण किया गया है।

इनमे से जड तत्त्व के मौलिक गुण-वर्ण, गध, रस और स्पर्श बताये गये हैं तो ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि चेतन तत्त्व के मौलिक गुण कहे गये हैं। यथा—

> णाण च दंसण चेव, चरित्तं च तवो तहा।
> वीरिय उवओगो य, एय जीवस्स लक्खण॥
>
> —उत्तरा० २८/११

तदनुसार आत्मिक गुणो के दो वर्ग किये गये हैं। एक वर्ग मे स्वाभाविक गुणो का समावेश किया गया है तो दूसरे वर्ग मे वैभाविक गुणो का। स्वाभाविक गुण निसर्गतः ही होते हैं जबकि वैभाविक गुण कर्मों के निमित्त से उत्पन्न होते हैं। वस्तुतः वैभाविक गुण स्वाभाविक गुणो की ही विकृति है। आत्मा की

अयथार्थ दृष्टि के कारण वैभाविक गुणो को बल मिलता है। ये वैभाविक गुण स्वाभाविक गुणो को ओझल करने वाले होते हैं। इन्ही वैभाविक गुणो मे रस लेने वाला पुरुष अन्य व्यक्तियो के गुणो से असन्तुष्ट रहता है। वह यही सोचता है कि अन्य व्यक्ति मेरे समान गुणो से सम्पन्न न बनें। वह कदाचित् किसी को गुणो मे उन्नति करते हुए देखता है तो उसके मन मे एक आन्तरिक व्यथा उत्पन्न होती है। वह उस उन्नति मे अवरोध डालने की बात सोचने लगता है। तदनुसार वह अपनी शक्ति को दूसरो के गुणो को लाछित करने अथवा उनकी उन्नति को रोकने की चेष्टा करता है। इस दिशा मे वह अपने प्रयत्नो को तेज करता रहता है। ऐसे पुरुष पर-गुण असहिष्णु कहलाते है।

ऐसे पर-गुण असहिष्णु पुरुष दूसरो के गुणो को लाछित करने या अव-गुणो के रूप मे प्रकट करने मे अपनी जो शक्ति लगाते हैं, उससे दूसरो के गुणो का तो कुछ बिगड़े या न बिगडे, परन्तु वे स्व-गुणो को तो छिन्न-भिन्न कर ही डालते हैं। पर-गुण असहिष्णुता के कारण उनके अपने गुणो का ह्रास होता चला जाता है।

असहिष्णुता स्वय एक बहुत बडा दुर्गुण है। और उसमे भी पर-गुणो के प्रति असहिष्णु होना पर के सिवाय स्व-गुणो का भी घातक होता है। यह ऐसी वृत्ति है जिसका कुप्रभाव उभयमुखी होता है। जिसकी वृत्ति, पर-गुणो को सहन करने की नही होती है, वह स्वय के गुणो को सहन करने अर्थात् पचाने मे असमर्थ हो जाता है। ऐसा पुरुष यदि अपने मे किसी भी रूप मे किसी गुण का विकास देखता है तो उसे उन्हे बाहर प्रदर्शित करने की बडी उत्सुकता रहती है।

स्व-गुणो को प्रदर्शित करने की लालसा उसमे एक प्रकार की रिक्तता पैदा कर देती है। जिन स्व-गुणो का प्रदर्शन वह दूसरो के सामने करता रहता है, वे वस्तुत. गुणान्तर से बाहर आ जाते हैं और उन गुणो के स्थान पर दंभ एव अहकार उसके भीतर प्रवेश कर जाते हैं। यह गति जब निरन्तर चलती रहती है तो वैसा पुरुष अधिकाशत· दुर्गुणो का कृपा भाजन बन जाता है। इसी कारण किसी भी सच्चे साधक को गुण प्रदर्शन के भ्रम मे नही गिरना चाहिये, क्योकि इससे दाभिक वृत्ति पनपती है। वस्तु स्वरूप के कथन में भी कृत्रिमता न आए, इसके लिये उसे सतर्क रहना चाहिये।

इस प्रकार की सतर्कता तभी रह पाती है, जब साधक स्व-गुणो को पचाने की क्षमता अर्जित कर लेता है। ऐसा साधक स्व-गुणो को विकसित करने के साथ-साथ भीतर रहे दुर्गुणो को त्यागने का यत्न भी करता रहता है। वह आत्म-द्रष्टा बन कर समीक्षण ध्यान से अन्तरावलोकन करता है तथा भीतर रहे

हुए सद्‌गुणो व दुर्गुणो को चित्रवत् देखता है। यह देखकर ही वह सकल्पपूर्वक दुर्गुणो को वाहर निकालने तथा उनके स्थान पर सद्‌गुणो को प्रतिष्ठित करने का पुरुषार्थ करता है। इस वृत्ति के साथ वह पर-गुणो की सराहना भी करता है तो उन्हे भी अपने जीवन मे अपनाने की जिज्ञासा बनाता है। वह गुण प्रशसक होता है तथा जहाँ भी गुण दिखाई दे, उनका सम्मान करता है एव उन गुणो को भी आत्मसात् करने का प्रयास करता है। इस प्रकार वह अपने जीवन को गुणालकृत बनाता रहता है। इसलिये गुण-सहिष्णुता जीवन-विकास की सहायिका होती है।

४ उन्नति सम्बन्धी असहिष्णुता

अपने स्वाभाविक गुणो-सद्‌गुणो का उत्तरोत्तर विकास करना वास्तविक उन्नति है। सामान्यतया उन्नति का इच्छुक व्यक्ति निज की उन्नति करना चाहता है। वह तदनुरूप प्रयत्नरत भी होता है। किन्तु उन्नति रूप कार्य के कारणो का यदि उसे विज्ञान न हो तो वह उन्नति नही कर पाता। यही नही, कभी-कभी वह अवनति की ओर भी गिरने लगता है। अत उन्नति चाहने वाले पुरुष को उन्नति के हेतुओ का विज्ञान करना नितान्त आवश्यक है।

उन्नति की अभिलाषा या सकल्प का अकुर अन्त करण मे प्रस्फुटित होता है। स्वय की अन्तर्चेतना मे जिस रूप मे भी उन्नति की कामना अभिव्यक्त होती है, उस अभिव्यक्ति को पल्लवित, पुष्पित एव फलित करने के लिये निरन्तर उसके अनुरूप विचारो का प्रवाह बनाना चाहिये। ऐसा विचार प्रवाह ही उस अकुर को अभिवृद्ध करके फलवान् बनाता है।

उन्नति एव तदनुरूप विचार जब अन्त करण मे दृढीभूत होते है तब तदनुरूप उच्चार का प्रसग उपस्थित होता है। वाणी के माध्यम से उन्नति के अनुरूप विचारो का वाह्य वायुमण्डल बनना प्रारम्भ होता है। तब उन्नति का आचार शारीरिक परिधि मे व्याप्त हो जाता है। व्यक्ति की आचार-सहिता वैसी दशा मे उन्नति के अनुरूप जीवन का अग बन जाती है और अन्य अनेक व्यक्तियो को भी सहभागी बना लेती है। ऐसी स्थिति मे अन्य व्यक्तियो की उन्नति मे स्वयं की उन्नति तथा स्वय की उन्नति मे पर की उन्नति का दर्शन होने लगता है। इसके अतिरिक्त उन्नति सम्बन्धी प्रभावकारी वायु मण्डल के बनते रहने से अवनति की परिस्थितियो का ह्रास होने लगता है। तब उन्नति की जडें अधिकाधिक मजबूत बनती जाती हैं।

जहाँ उन्नति का मूल मजबूत हो जाता है, वहाँ उन्नति के पौधों के पल्लवित, पुष्पित एव फलित होने मे देरी नही लगती। अतएव किसी भी प्रकार की उन्नति करने के इच्छुक पुरुष को सबसे पहले उन्नति को स्वय के भीतर समा लेने

की क्षमता पैदा कर लेना चाहिये। साथ ही वह तत्सम्बन्धी हेय, ज्ञेय एव उपादेय के विज्ञान को सम्यक् रीति से सम्पादित कर अभीष्ट उन्नति के लिए सलग्न हो जाए। उसे अपनी आन्तरिक वृत्तियो का सागोपाग निरीक्षण एव परीक्षण भी करते रहना चाहिये, ताकि उसके मन मे उन्नति सम्बन्धी असहिष्णुता अकुरित न होने पाए।

५. वाणी सम्बन्धी असहिष्णुता

वाणी (वचन) कल्पलता के तुल्य कही जा सकती है। किन्तु वाणी के विशिष्ट महत्त्व को समझने की आवश्यकता है। जिह्वा मिली है तो बोलना ही इसका काम है, ऐसा सोचना योग्य नही है। जिह्वा वाणी का माध्यम है अत. इसका महत्त्व बहुत अधिक बढ जाता है। कहा है कि वचन-वचन मे बहुत अन्तर होता है। एक वचन औषध का काम करता है तो दूसरा वचन किसी के दिल पर गहरा घाव लगा कर घातक भी हो सकता है। वचन प्रीतिकारक भी होता है तो अप्रीतिकारक एव कटु भी। एक वाणी मनुष्य के अन्त करण मे शस्त्र का काम करती है तो दूसरी वाणी मरहम का भी काम करती है। एक शब्द क्लेश का सर्जक बनता है तो दूसरा शब्द प्रशमता का वायु मण्डल निर्मित कर देता है। एक वचन स्वर्ग की भूमिका तैयार करता है तो दूसरा नरकागार की शय्या तैयार कर देता है। एक वचन दुर्गति का हेतु बनता है तो दूसरा सद्गति का नियामक हो जाता है। एक वचन आत्म शुद्धि का जनक होता है तो दूसरा आत्मा को मलिन बनाने का काम करता है। इसी वाणी के प्रयोग से शत्रु भी मित्र बन जाते है तो मित्र भी शत्रु हो जाते हैं। एक वाणी प्रवाह ऐसे चलता है कि आत्मा ससार-समुद्र मे गोते लगाती ही रहती है तो दूसरा प्रवाह ऐसा बहता है कि आत्मा मोक्ष के परमानन्द मे तन्मय बन जाती है। द्रौपदी के एक वचन ने महाविनाशकारी महाभारत की भूमिका तैयार कर दी थी तो भगवान् महावीर के वचन ने चण्डकौशिक जैसे घोर विषधर की आत्मा को सन्मार्ग पर ला दिया था। इसलिये वाणी के रूप, वाणी की विधि तथा वाणी के प्रयोग के सम्बन्ध मे परिपक्व विज्ञान एव सदाशयी विवेक की नितान्त आवश्यकता है।

समीक्षण दृष्टि से वचन सम्बन्धी सम्यक् विज्ञान होने पर ही वाचिक सिद्धि की समुपलब्धि संभव होती है। प्रत्येक साधक को वचन शुद्धि का यह विज्ञान वीतराग वाणी से प्राप्त करना चाहिये। वीतराग देवो ने वचन शुद्धि के लिये बहुत ही सूक्ष्मता से उपदेश दिया है। सत्य होने पर भी वाणी की कटुता उसे अप्रिय व असत्य बना देते है। एक आंख वाले व्यक्ति को सत्य होने पर भी अगर "काना" कहकर पुकारें तो क्या वह कथन प्रिय महसूस होगा ? किसी दोष को प्रियकारी वाणी के माध्यम से भी बताया जा सकता है। अन्धे को अन्धा कहने वाला अन्धे के दिल को तोड देता है। उसी अन्धे को यदि प्रज्ञा-चक्षु कहकर

पुकारें तो क्या ये शब्द उसे प्रिय नही लगेंगे ? कहने का आशय यह है कि वाचिक शक्ति के सत्प्रयोग के लिये वाचिक सहिष्णुता का होना जरूरी है। यह वाचिक सहिष्णुता तभी उपजती है जब मन के प्रतिकूल होने पर भी दूसरो के वाचिक प्रयोग को सहन करने की शक्ति उपार्जित की जाय।

वाचिक असहिष्णुता कटुता एव क्लेश का वातावरण बना देती है। इस असहिष्णुता को त्यागने के लिये मनुष्य को तटस्थ भाव अपनाना होगा। कोई उसे कुछ भी कहे, वह उसके विरुद्ध विषम वाणी का प्रयोग न करे, अपितु ऐसी समतामयी वाणी का प्रयोग करे कि विषम वाणी का उच्चारण करने वाला भी समता-विभोर बन जाय। ऐसी वाचिक सहिष्णुता से वाचिक लब्धि की प्राप्ति होती है जिसके परिणामस्वरूप उसकी वाणी नपी तुली, सयमित, सन्तुलित तथा समताभाव से पवित्र बन जाती है।

६. शारीरिक असहिष्णुता

शारीरिक सामर्थ्य भी प्रत्येक कार्य को सम्पन्न करने मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। गम्भीरता से चिन्तन किया जाय तो सभी प्रकार की शक्तियो की आधारशिला शारीरिक शक्ति है। शारीरिक अवस्थान मे सहन शक्ति अर्जित करने की नितान्त आवश्यकता रहती है। इस शक्ति के अभाव मे शरीर के माध्यम से अभीष्ट कार्य की सिद्धि नही हो पाती है। किसी भी कार्य को सफलता पूर्वक सम्पादित करने के लिये शरीर प्रयोग अवश्यभावी है। वीतराग देव का कथन है कि सर्वोच्च सिद्धि-मुक्ति वही प्राप्त करता है जिसे वज्र-ऋषभ-नाराच संहनन प्राप्त होता है।

शरीर जब अनुकूल-प्रतिकूल सस्पर्श को समभाव से सवेदन करने मे समर्थ होता है, तभी उस शरीर से किया जाने वाला काय व्यवस्थित रूप मे सम्पन्न हो सकता है। इसके अभाव मे कदाचित् भगवान् का नाम स्मरण करने मे भी बाधा पैदा हो सकती है। साधक तो चाहता है कि तन्मयता के साथ प्रभु-स्मरण मे तन-मन को लगा दूं किन्तु इधर वह स्मरण करने के लिये बैठता है और उधर मच्छर डक मार देता है या गर्म हवा का झोंका बहने लग जाता है तो वह स्मरण से चलायमान हो जाता है। तो यह उसकी शारीरिक असहिष्णुता कहलायगी। वह प्रतिकूल सस्पर्श को सहन नही कर सका। इससे उसके कार्य की सिद्धि नही हो पाती।

शारीरिक सहिष्णुता के अभाव मे कोई भी कार्य, चाहे वह धार्मिक हो या सासारिक, भली भांति सध नही सकता है। क्योकि असहिष्णु व्यक्ति कार्य के बीच में ही झु झलाने लगेगा और अपने तन-मन का सन्तुलन बिगाड बैठेगा। साधारण से साधारण कार्य मे भी शारीरिक सहिष्णुता एव शारीरिक सामर्थ्य

का योगदान अनिवार्य है। फिर आध्यत्मिक साधना मे शारीरिक क्षमता की कितनी अधिक आवश्यकता होती है, इसे भलीभाति समझा जा सकता है। कहा गया है कि "शरीरमाद्य खलुधर्मसाधनम्।" यह भी एक कारण है कि उत्कृष्ट आध्यात्मिक साधना के लिये उत्कृष्ट सामर्थ्य वाले शरीर की अपेक्षा रहती है। इसी कारण उत्कृष्ट शारीरिक बल की अवस्था मे ही मोक्ष प्राप्ति का उल्लेख शास्त्रो मे हुआ है।

आत्मा से कर्मो को विलग करने के लिये उच्च कोटि की ध्यान-साधना अपेक्षित है। उस ध्यान साधना मे यद्यपि मन का पूरा प्रावधान है तथापि मन शारीरिक सामर्थ्य के साथ सम्बन्धित होता है। शरीर मन के लिये ढाल और कवच का काम करता है। युद्ध मे प्रवृत्त योद्धा युद्ध करने मे कितना ही कुशल क्यो न हो, वह प्रतिपक्षी की ओर से आने वाले शस्त्र प्रहार से अपने शरीर को बचाने के लिये ढाल और कवच अवश्य रखता है और तभी वह युद्ध क्षेत्र मे सफलतापूर्वक आगे बढता रहता है। ढाल और कवच की सुरक्षा भी बडी मजबूत होती है। अतः मन रूपी योद्धा के लिये शरीर रूपी ढाल व कवच सुदृढ होना चाहिये। ऐसी अवस्था मे मन की ध्यान साधना निर्बाध और सफल हो सकेगी।

शरीर का ऐसा सामर्थ्य शरीर सम्बन्धी विविध प्रक्रियाओ से प्राप्त किया जा सकता है। वे प्रक्रियाए इस प्रकार की होनी चाहिये, जिनसे शरीर के अवयवो को परिश्रम की अवस्था मे रखा जा सके। इस प्रकार शारीरिक अवयव पुष्ट होने के साथ-साथ आने वाले आघातो को सहन करने मे सहिष्णुता प्राप्त की जा सकेगी। इस हेतु दैनिंदिन कार्यो मे अवयवो को सम्यक् प्रकार से नियोजित किया जा सकेगा। इन प्रक्रियाओ में यौगिक क्रियाएं बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं। इनके माध्यम से एकावधानता की शक्ति भी बढ सकेगी। ऐसा साधक साहजिक योग की साधना के माध्यम से ध्यान साधना मे अधिक अग्रसर बन सकता है।

शरीर के अवयवो की असहिष्णुता की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिये। क्रोध इनकी असहिष्णुता को बढाता रहता है, जिस पर समीक्षण भाव से नियन्त्रण स्थापित किया जाना चाहिये। यदि कर्णेन्द्रिय मे अप्रिय शब्दो का प्रवेश हो तो उस समय वैसी सहिष्णुता अपेक्षित है। उसमे द्वेष की अभिव्यक्ति रूप असहिष्णुता नही आनी चाहिए। अनुकूल शब्द श्रवण कर राग की अभिव्यक्ति भी असहिष्णुता का द्योतन करने वाली है। यही चक्षु आदि अन्य इन्द्रियो की असहिष्णुता के सम्बन्ध मे समझना चाहिए। वस्तुतः शब्द, शब्द है, रूप, रूप ही है, वह अपने आपमे न प्रिय होता है न अप्रिय, मनोज्ञता-अमनोज्ञता उसका स्वभाव नही है। श्रोत्र शब्द को श्रवण करता है और मन उस पर

प्रियता-अप्रियता, मनोज्ञता-अमनोज्ञता का रग चढा देता है। इस रग की बदौलत आत्मा मे राग-द्वेष की वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। यदि शब्द को शब्द और रूप को रूप ही माना जाए और उस पर मनोज्ञता-अमनोज्ञता का रग न चढने दिया जाय तो साधक की समभावना एव सहिष्णुता खण्डित नही होगी। इस हेतु समभाव की सर्जना का अभ्यास किया जाना चाहिये। जिससे अवयवो की परिपुष्टि एव सहिष्णुता सम्बन्धी क्षमता अर्जित हो सकेगी।

शरीर के अवयव असहिष्णु रहे तो अवयवी शरीर तो नितान्त असहिष्णु रहेगा ही। ऐसी कायिक असहिष्णुता समीक्षण योग की साधना मे बाधक बनेगी। अत समीक्षण ध्यान के माध्यम से अन्तर्यात्रा का आनन्द लेना चाहे तो कायिक सहिष्णुता परिपुष्ट रूप मे अर्जित की जानी चाहिये।

क्रोध-त्याग से सहिष्णुता का विकास

मानवजीवन सरिता के प्रवाह के समान निरन्तर प्रवाहित होता रहता है। दोनो मे उतार-चढाव आना सहज-स्वाभाविक है। कभी नदी का प्रवाह बाढ का रूप लेकर तट को छोडकर भी प्रसरित हो जाता है तो कभी ऐसी स्थिति भी बन जाती है कि प्रवाह अत्यल्प हो जाता है। किसी स्थल पर ऊपर से तो नदी सूखी जैसी दिखाई देती है किन्तु जल प्रवाह भूमिगत होकर बहता रहता है। मानव जीवन के प्रवाह की भी ऐसी ही विविध अवस्थाए चलती रहती हैं।

क्रोध जीवन मे जिस प्रकार विभिन्न प्रकार की असहिष्णुताओ को जन्म देता है, उसी प्रकार यदि समीक्षण दृष्टि से क्रोध का त्याग कर दिया जाए अथवा उपयोगपूर्वक उसे घटाया जाए तो कई प्रकार की सहिष्णुताओ का विकास भी किया जा सकता है। यहा ऐसी कुछ सहिष्णुताओ का विश्लेपण किया जा रहा है—

१ उन्नति-अवनति सहिष्णुता

कई व्यक्ति सूखी हुई नदी को देखकर तिरस्कारपूर्ण कथन कर सकते हैं कि इसमे क्या धरा है! किन्तु क्या उस अवनति सम्बन्धी तिरस्कार को सुनकर भी नदी अपनी स्वाभाविक सहिष्णुता को छोड़ देती है? नही! मानव-जीवन रूपी सरिता भी कई प्रकार के प्रवाहो के साथ बहती है। कभी ज्ञान प्रवाह को प्रबल बनाने की उत्सुकता के साथ प्रयास किया जाता है तो भावोर्मियाँ उमडकर सामर्थ्य-तट को लाघ जाना चाहती हैं। कभी मध्यम धारा मे ज्ञानार्जन होता है तो कभी ऐसा अनुभव होता है कि जैसे ज्ञान-प्रवाह अवरुद्ध हो गया हो। किसी समय अज्ञता रूप शुष्कता का आभास भी होता है। वास्तव मे ऐसा होता नही है, क्योकि भीतर मे न्यूनाधिक रूप मे ज्ञान प्रवाह तो रहता ही है। किन्तु

बाह्य दृष्टि वाले इस तथ्य को न जानने के कारण अवहेलना स्वरूप शब्द का प्रयोग कर देते हैं कि यह मूर्खाधिराज है, जडमति है या ज्ञानहीन है। इस अवनति सूचक व्यवहार से वह व्यक्ति विचलित नहीं होता जिसने उन्नति-अवनति सम्बन्धी सहिष्णुता को हृदयगम कर लिया है। यह तभी बन सकता है जब दूसरो की ऐसी वृत्ति देखकर उसको तिरस्कृत करने के लिये अनुचित शब्दो का प्रयोग न करे। शब्द प्रयोग ही नही, अपितु मन मे भी उसके लिये गलत चिन्तन न लावें। समभाव के साथ उसका यथायोग्य समादर करते हुए चिन्तन करें कि यह उतार-चढाव की अवस्था कर्मोदय एव वातावरण के प्रभाव से बनती तथा बदलती रहती है। ऐसे चिन्तन से सहिष्णुता का विकास होता है।

समीक्षण ध्यान की भूमिका पर साधक को इसी रूप मे श्रद्धान तथा आचरण के विषय मे भी चिन्तन करने की आवश्यकता है। यह तो आन्तरिक समृद्धि सम्बन्धी प्रवाहो की बात है जो कि मुख्यतया पूर्ण साधको को संस्पर्शित करती है। किन्तु आंशिक साधको के लिये आन्तरिक समृद्धि के साथ-साथ बाह्य भौतिक समृद्धि का भी सम्बन्ध जुडता है। इसके अन्तर्गत आर्थिक, सामाजिक, पारिवारिक, राष्ट्रीय, वैयक्तिक आदि अवस्थाओ का समावेश होता है। इस प्रकार की बाह्य भौतिक समृद्धि स्वरूप प्रवाह मे उतार-चढाव के प्रसगो पर अवनति की अवस्था को देखकर भी जो कभी असहिष्णु नही बनता है और न दूसरो की अवनति को देखकर उनका अवमूल्यन करता है, वैसा आंशिक साधक भी अवनति-सहिष्णुता को यथाशक्ति प्राप्त कर उस अनुपात से समीक्षण ध्यान की भूमिका का वरण कर सकता है।

२ उत्कर्ष-अपकर्ष सहिष्णुता

मानवीय जीवन की गरिमा विविध प्रकार से प्रस्फुटित होती है। शारीरिक सम्बन्ध से, अग-प्रत्यगो की उत्कर्षता कभी-कभी इस से उच्चस्तरीय सीमा को छू लेती है, जिससे अन्य जनो की दृष्टि मे वह शरीर दिव्य एव आकर्षक लगने लगता है। उस आकर्षण के प्रति कई नेत्र चुम्बक की तरह खिच जाते हैं और उस शरीर रचना को देख कर मुग्ध बन जाते हैं। बलभद्र मुनि की उत्कृष्ट-रूप शारीरिक रचना को देखने से मुग्ध बन कर ही तो पनिहारिन ने घडे की जगह अपने पुत्र के गले मे रस्सी डालकर उसे कुए मे उतारने लगी थी। सनत्कुमार चक्रवर्ती के रूप-स्वरूप को देखने के लिए स्वर्ग से देव दौड पडा था। चेलिणा-चेलना तथा सती मृगावती आदि के कई प्रसगो मे शारीरिक उत्कर्षता का द्योतन होता है।

ऐसी उत्कर्षता की अवस्था को देखकर पुरुष कई बार सहिष्णुता की सीमा को लांघ कर कहने लगता है कि मेरे समान शारीरिक सुन्दरता किसी की नहीं है। इस धुन मे वह दूसरो को हीन तथा घृणा की दृष्टि से देखने लगता

है। इस रूप मे उसकी सहिष्णुता विच्छिन्न हो जाती है एव अन्य प्रगति को साधने मे वह अपनी शारीरिक शक्ति का सदुपयोग नही कर पाता है। समीक्षण ध्यान साधना मे भी वह सफल नही हो पाता है।

वैसे ही पारिवारिक, सामाजिक तथा वैभव सम्बन्धी उत्कर्षताओ मे अहकारग्रस्त हो जाने वाले पुरुष समीक्षण ध्यान मे गति नही कर पाते हैं कैसा भी उत्कर्ष हो, उसे अपने मन पर हावी नही होने देना चाहिये। स्वय के उत्कर्ष से हीन उत्कर्ष वाले व्यक्तियो के साथ समभावपूर्वक व्यवहार किया जाना चाहिये। स्वय के समान तथा स्वय से अधिक उत्कर्ष वाले व्यक्तियो के साथ ईर्ष्या नही आने देनी चाहिये। ऐसी सहिष्णुता को साकार रूप देकर समीक्षण ध्यान के माध्यम से अन्तरावलोकन की योग्यता प्राप्त की जा सकती है।

जीवन अनेकानेक विचित्र परिस्थितियो मे से गुजरता रहता है। कभी ऊपर, कभी नीचे तो कभी तिरछी गति करने का क्रम चलता रहता है। पर्याय की दृष्टि से भी शरीर विविध पर्यायो को धारण करता है। उनमे कभी अनुकूल पर्याय को धारण करता है तो कभी प्रतिकूल पर्याय को। कभी शारीरिक नीरोगता रहती है तो कभी रोगो का सामना भी करना पडता है। व्यक्तित्व एव कर्तृत्व झूले के हिण्डोलो की तरह कभी ऊपर से नीचे उतर आता है। बौद्धिक सम्पन्नता होते हुए भी आर्थिक विपन्नता की अवस्था आ जाती है। पहले की समृद्ध पारिवारिक गरिमा भी न्यून बन जाती है। यश भी अपयश मे बदल जाता है। उत्कर्ष से जीवन दिशा अपकर्ष की ओर मुड जाती है। इन विविध अवस्थाओ के उतार-चढाव की परिस्थितियो मे प्राय. व्यक्ति अपने आपको सन्तुलित नही रख पाते हैं और दैन्य, निराशा, हतवीर्यता या क्रोध मे भरकर असहिष्णु बन जाते हैं। उस समय मे दूसरो के प्रति कलुष एव विद्वेष की भावनाएँ भी उभर आती हैं तो अपने प्रति भी भूतकाल के स्मरण के साथ हीन भावनाएँ जन्म ले लेती हैं। वैसे असहिष्णुतापूर्ण मानस मे कर्तव्याकर्तव्य का भान भी नही रहता है। व्यथा से भरी हुई वैसी आत्मा की दशा दयनीय हो जाती है।

ऐसी आत्मा ने समत्वमय चैतन्य स्वरूप को विस्मृत कर अपने स्वभाव से विपरीत विभावो को अपनाया तो उसकी वृत्तियाँ विभिन्न पर्यायो मे बिखर गई, जिससे उसका मूल ज्ञान केन्द्र ही उसकी पहिचान से निकल गया। यदि वह आत्मा स्वय का विज्ञान प्राप्त कर लेती और स्वय के स्वभाव से भिन्न अवस्थाओ को तटस्थ दृष्टा होकर देखती तो केन्द्र की मूल आधारशिला अपकर्ष-सहिष्णुता को पा लेती। जिन पुरुषो ने अपकर्ष-सहिष्णुता की वास्तविकता प्राप्त की एव तदनुसार सभी पर्यायो मे सहिष्णुता की पतवार को हाथो मे थामे रखा, वे

विकट एव प्रतिकूल अवस्थाओ में रहते हुए भी समीक्षण ध्यान की दिशा मे प्रयाण करने मे पीछे नही रहे। अतः अपकर्षण सम्बन्धी सहिष्णुता भी महत्त्वपूर्ण है।

३. वैयक्तिक सहिष्णुता

प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक अवस्था मे स्वय की योग्यतानुसार ही अपने व्यक्तित्व का अनुभव करता है। व्यक्तित्व जीवन का महत्त्वपूर्ण अग है। दूसरे शब्दो मे कहे तो व्यक्तित्वाभाव मे व्यक्ति आत्मारहित शरीर के तुल्य हो जाता है। व्यक्तित्व की अनुभूति से ही व्यक्ति अपने जीवन का निर्माण कर सकता है। व्यक्तित्व की अनुभूति न हो तो जीवन का कोई विशेष मूल्य नही रहता। बाल्यावस्था मे बालक जब कुछ समझ पकडने लगता है तो वह अज्ञात मनःस्थिति मे ही सही, अपने व्यक्तित्व की अनुभूति करने लगता है। उसके भीतर मे व्यक्तित्व के महत्त्व का अस्पष्ट सा अवलन हो जाता है। तब उस व्यक्तित्व का पोषण करने के लिये वह प्रत्येक कार्य मे अपने आपको नियोजित करने की चेष्टा करता है। यद्यपि उस अवस्था मे वह व्यक्तित्व के मूल्य को स्पष्ट रूप से नही जान पाता है, फिर भी शरीर पर्याय के साथ उसकी सहज एव स्थायी भाव की वृत्ति बन जाती है। जब कभी उसके व्यक्तित्व को ठेस पहुचती है तो वह खिन्नता का अनुभव करने लगता है। इसके साथ ही उसके व्यक्तित्व को सवर्धन करने वाला सम्मान मिलता है तो वह प्रफुल्लता का अनुभव भी करता है और उस दिशा मे आगे बढने की अप्रत्यक्ष रूप मे चेष्टा करता है।

व्यक्तित्व सम्बन्धी ऐसी वृत्ति के साथ जब वह बालक बड़ा होता है और व्यक्तित्व का प्रत्यक्ष मूल्याकन करने लगता है, तब वह व्यक्तित्व के निर्माण से सम्बन्धित हेतुओ से भी परिचित हो जाता है। व्यक्तित्व को कब ठेस लगती है और कब प्रेरणा मिलती है, इसका विज्ञान भी वह कर लेता है। व्यक्तित्व सम्बन्धी समस्त दृष्टियो का ज्ञाता होने पर जब वह व्यक्तित्व का मूल्याकन करने मे भलीभाँति समर्थ हो जाता है, उस समय वह यदि स्वय के व्यक्तित्व का अहकार न करे तथा अपने स्वभाव व व्यवहार को कोमल एव विनम्र बनाए रखे तो उसका व्यक्तित्व अथवा वैयक्तिक सहिष्णुता विकसित होने लगती है। ऐसी मानसिकता मे वह एक ओर स्वयं के व्यक्तित्व को सार्थकता का निखार दे देता है तो दूसरी ओर अन्य व्यक्तियो के व्यक्तित्व को भी सम्मान देता हुआ दूसरो के जीवन-विकास मे योग्य सहायक बन जाता है। वह अपने से हीन व्यक्तित्व वाले पुरुषो का कभी तिरस्कार नहीं करता, बल्कि छोटे बच्चो के साथ भी ऐसा स्नेहिल व्यवहार करता है कि बच्चो के यथोचित व्यक्तित्व विकास मे भी सहयोग मिल जाता है। वह सभी व्यक्तियो के जीवन की परिस्थितियो को समभाव से देखता है एव करुणाभाव मे ओतप्रोत होकर दूसरो को उनकी

योग्यता के अनुसार अपने-अपने व्यक्तित्वो के सम्यक् विकास की प्रेरणा देता है। उन व्यक्तियो के व्यक्तित्व को क्षति पहुँचाने वाली बातो को जिन रूपो मे वह देखता है, उनके सशोधन के लिए उन्हे सन्तुलित स्वरूप मे सुमधुर उपदेश भी देता है।

वैयक्तिक सहिष्णुता के धनी ऐसे पुरुषो के ऐसे व्यवहार से कई पुरुषो का व्यक्तित्व सफलतापूर्वक निखरता है। यह अलग बात है कि कोई व्यक्ति उनके स्नेहिल व्यवहार को न समझकर उनके निमित्त से स्वय के व्यक्तित्व का भव्य निर्माण न कर पाते हो। परन्तु ऐसे स्नेहिल पुरुषो का सब ओर व्यापक प्रभाव पडता है। ऐसे स्व-पर-सुधारक व्यक्तित्व का निर्माण तभी हो पाता है जब कोई व्यक्तित्व सहिष्णुता को अपने साथ अपनी छाया की तरह लेकर चले। ऐसा पुरुष हीन, क्लिष्ट अथवा विद्रोही व्यक्तित्वो के प्रति भी समता की भूमिका पर खडा रह कर असहिष्णुता का व्यवहार नही करता। इस विकसित सहिष्णुता के साथ ही स्वय की आत्म सिद्धि हेतु समीक्षण ध्यान की प्रक्रिया को भव्य विधि से अपना सकते है।

४. पारिवारिक सहिष्णुता

पैत्रिक सदस्यो वाला समूह परिवार कहलाता है। यह एक छोटी इकाई के रूप मे रहता है। सामान्यतया परिवार के सदस्यो की व्यवसाय वृत्ति, भोजनादि की व्यवस्था अथवा आवश्यकताओ के अनुसार वस्तुओ की सम्पूर्ति सयुक्त रूप मे हुआ करती है। इसमे एक दूसरे का परस्पर आत्मीयतामय सम्बन्ध रहता है, जिसके कारण वे एक दूसरे के सुख-दुःख मे भी पारम्परिक योगदान करते हैं। परिवार मे भी अनुशासन की आवश्यकता होती है किन्तु वह अनुशासन, आत्मीयता की अनुभूति को लिये हुए ही होना चाहिए। जिन परिवारो मे ऐसा अनुशासन होता है, उनकी पारिवारिक गरिमा तथा समाज मे महत्त्व की स्थिति अभिव्यक्त होती है। ऐसे परिवारो के साथ अन्य परिवार वाले स्पर्धा करके स्वय की उन्नति साधने के इच्छुक बनते है। इसके विपरीत कुछ परिवार ऐसे भी रहते हैं जो समुन्नत परिवारो के साथ ईर्ष्या वृत्ति को पनपाते है। ईर्ष्या के वशीभूत होकर वे समुन्नत परिवारो को छिन्न-भिन्न एव विशृखलित करने के जघन्य प्रयास भी करते रहते हैं।

यहा पर भी सहिष्णुता और असहिष्णुता का प्रश्न ही सामने आता है। असहिष्णु परिवार उपर्युक्त हीन प्रयास कर सकते हैं किन्तु जिन परिवारो मे पारिवारिक सम्बन्धो को लेकर सहिष्णुता की विकसित वृत्ति होती है, उनके सदस्यो का पारस्परिक व्यवहार एक दूसरे के स्वभाव को पहिचान लेने के कारण बहुत ही सौहार्द्रपूर्ण होता है। वे किसी सदस्य की कोई भूल देखकर भी

असहिष्णु नही बनते, अपितु एक-दूसरे के सहयोग से भूल को सुधारने मे लग जाते हैं।

परिवारों मे जब इस प्रकार की सहिष्णुता वृत्ति का विकास हो जाता है तो उनकी सामाजिक क्षेत्र में एक गरिमा स्थापित हो जाती है। प्रत्येक सदस्य के मन मे दायित्व की भावना सुदृढ बन जाती है कि उसे न तो पारिवारिक गरिमा को स्वय की अहं वृत्ति से कलकित करना है तथा न ही विविध प्रकार के पारिवारिक कर्तव्यो से उसे स्खलित होना है। ऐसे सदस्य तब सहज स्नेह के साथ विशृंखलित परिवार को भी स्वस्थ निर्माण करके आगे बढने की प्रेरणा देते हैं। समुन्नत परिवारो के ऐसे सदस्यो का यही चिन्तन रहता है कि मुझमे अहंकार पैदा न हो और मैं सबकी यथाशक्ति सेवा करता रहूँ। ऐसे चिन्तन से असहिष्णुता के पैदा होने और पनपने को कोई अवसर नही रहता है, क्योकि परिवारो के मुख्य व्यक्तियों मे ऐसी सहिष्णुता समाई रहती है कि वह अन्य सदस्यो के लिये भी आदर्श तथा अनुकरणीय बन जाती है।

मुख्य व्यक्तियों एवं सदस्यो की दृढ सहिष्णुता के आधार पर ही पारिवारिक सहिष्णुता का निर्माण होता है। ऐसे परिवार चाहे आंशिक रूप ही सही—आध्यात्मिक ध्यान साधना की योग्यता भी प्राप्त कर लेते हैं, क्योकि अधिकाशत उनकी साधना सामूहिक रूप से ही विकसित होती है। ऐसी पारिवारिक सहिष्णुता का सुप्रभाव पूरे सामाजिक वायुमण्डल पर पडे बिना नही रहता। इस वायुमण्डल की प्रेरणा कई अर्ध विकसित अथवा अविकसित परिवार भी ग्रहण करते है तथा धीरे-धीरे अपनी गरिमा का निर्माण करते हैं।

५ सामाजिक सहिष्णुता

समाज भी एक विशेष इकाई है। व्यक्तियो के सामूहिक व्यवस्थित परिवेश को समाज की सज्ञा से अभिहित किया जाता है। केवल जन-समुदाय के एकत्रीकरण को ही समाज नही कहा जा सकता। ऐसा समूह तो पशुओ का भी हो सकता है। इसलिये परस्पर निरपेक्ष समूह को समाज न कह कर "समज" की सज्ञा दी गई है। क्योंकि समाज मे परस्पर सापेक्ष दृष्टि से सभी के हित की व्यवस्था का प्रावधान रहा हुआ है।

जिन व्यक्तियों के समूह से समाज सरचना होती है, उन सभी का उसमें सामान्य हित सन्निहित होता है। उस हित की सुरक्षा हेतु सामाजिक आचार संहिता लिखित रूप मे निर्धारित होती है अथवा सतत व्यवहार से एक जीवन्त स्वरूप ग्रहण कर लेती है। उनमे समाज के प्रत्येक सदस्य से समुचित अधिकारो एवं तदनुरूप कर्तव्यो का बोध रहता है। ऐसी संहिता का निर्माण सभी की विचार चर्चा के साथ विधिवत् रूप से होता है। उसमे बाद मे कोई भी

परिवर्तन-परिवर्धन नही कर सकता और न ही आचार संहिता अथवा उसमें किये गये विधिवत् परिवर्तनो या परिवर्धनो की अवहेलना ही कर सकता है। जिस समाज मे इस प्रकार के सुव्यवस्थित विधि विधान के साथ आचार संहिता का अनुसरण होता हो, वहाँ यह समझा जा सकता है कि सभी सदस्यो के सामाजिक हित सुरक्षित हैं।

किसी भी समाज का सुव्यवस्थित रूप ही राष्ट्रीयता की भूमिका का निर्माण करता है। वैसे राष्ट्र एव समाज के प्रत्येक सदस्य को पारस्परिक सहयोग से विश्वास एव शान्ति का अनुभव होता है। अतः सामाजिक सहिष्णुता का विकास आवश्यक है एव सभी सदस्यो की सहिष्णुता के प्रति जागृति भी। समाज मे भिन्न-भिन्न प्रकृति के व्यक्ति सम्मिलित रहते हैं और व्यक्तिगत उत्कर्ष अथवा अपकर्ष के सदर्भ मे परिस्थितियो की भिन्नता भी रहती है, जिससे सामूहिक सद्भाव को वल देने की दृष्टि से सामाजिक सहिष्णुता आवश्यक है। जहाँ समूह होता है, वहाँ असहिष्णुता को वढावा मिलने के अनेक अवसर आते रहते हैं। अत जब तक अधिक सख्या मे व्यक्ति एव परिवार सहिष्णुता के धरातल पर खडे नही होते, तव तक सामाजिक सहिष्णुता को पल्लवित करने के लिये कठिन प्रयास करने पडते हैं। ऐसे वातावरण को सहृदयतापूर्वक वनाना होता है कि विभिन्न व्यक्ति अथवा परिवार ईर्ष्या, घृणा, अवनति अथवा ऐसी ही विभाजक वृत्तियो के शिकार न वने और उन्हे पूरे समाज की तरफ से सहिष्णुता पनपाने की प्रेरणा मिलती रहे। व्यक्तिगत वृत्तियो को सामाजिक रूप न दिया जाय जिससे कि अव्यवस्था एव अराजकता व्याप्त न हो। इस दृष्टि से विशिष्ट समाज-सरचना के आधार पर व्यक्ति, परिवार, समाज तथा राष्ट्र को उन्नतिशील वनाने के लिये सामाजिक सहिष्णुता को जीवन-व्यवहार मे साकार रूप देना परमावश्यक है।

सामाजिक सहिष्णुता को प्रधानता देने वाले व्यक्ति कभी भी व्यक्तिगत स्वार्थ वृत्ति मे नही उलझेंगे। वे सदा सामाजिक हितो को ही प्राथमिकता देंगे। व्यक्ति अपने अहित को सहन कर लेगा किन्तु सामाजिक अहित उसे असह्य होगा। ऐसे समाज मे समीक्षण ध्यान की साधना व्यापक एव गहन रूप से साधी जा सकेगी।

६. राष्ट्रीय सहिष्णुता

विश्व की दृष्टि से राष्ट्र भी एक इकाई ही है। अनेक सामाजिक सस्थानो का इसमे समावेश होता है। इस इकाई के अधिकारो एव कर्तव्यो का भी विशिष्ट रूप होता है। राष्ट्रीय सुव्यवस्था एव हित की दृष्टि से तदनुरूप विधि-विधानो का प्रावधान भी रहता है। राष्ट्र मे व्यक्ति, परिवार तथा समाज

के हितो की विवेकपूर्वक समन्वित व्यवस्था की जाती है। राष्ट्रीय विधि-विधानो का एकांगीण स्वार्थो से परे व्यापक एव सबके लिये न्याय-सगत होना आवश्यक है। ऐसे विधि-विधान निर्माताओ मे सर्वांगीण यथार्थ ज्ञान तटस्थ एवं हार्दिक औदार्य होना चाहिये। इन आवश्यक गुणो का समन्वय समता के धरातल पर मनोवैज्ञानिक एव आध्यात्मिक लक्ष्य की पूर्ति के साथ सभावित है। ये गुण आन्तरिक अनुभूति के ज्ञान के साथ ही अर्थात् अध्यात्म की मुख्यता के साथ ही प्राणवान् वन सकते हैं। आध्यात्मिकता के साथ जुडे न होने पर भौतिक ज्ञान-विज्ञान निष्प्राण से रहते हैं। वर्तमान मे परिलक्षित होने वाली राष्ट्रीय व्यवस्था भले ही विधि-विधान के धरातल पर समीचीन दृष्टिगत होती हो किन्तु इन विधि-विधानों से राष्ट्र के प्रति जो सहिष्णुता उत्पन्न होनी चाहिये, वह आज होती हुई नही दिखाई देती है। राष्ट्रीयता के भले ही लुभावने नारे लगते हों, कल्याणकारी योजनाएँ वनती हो, तथाकथित कार्य समितियो का निर्माण कर लिया जाता हो, नवीन कार्य-प्रणालियाँ घोषित की गई हो, अथवा गरीवी और महगाई को मिटा देने के भरपूर आश्वासन दिये जाते हो, लेकिन उस सच्ची राष्ट्रीय सहिष्णुता का अभाव-सा दिखाई देता है जिसके प्रभाव से राष्ट्र के नागरिको मे परस्पर सहयोग एव सौहार्द्र का विकास होता है।

राष्ट्रीय सहिष्णुता के प्रश्न पर प्रत्येक भारतीय को गभीरतापूर्वक चिन्तन करना चाहिये कि क्या इसके विना राष्ट्र के अभीष्ट साध्य की सिद्धि हो सकेगी? इस प्रकार चिन्तन के क्षणो मे यह विदित हो सकेगा कि भारतवासियो ने बाह्य धरातल पर ऊपर-ऊपर से ही सोचने का प्रयास किया है और दूसरो की नकल करने की ही अधिक चेष्टा की है, परन्तु भारतीय राष्ट्र की मौलिक-निधि एव विशिष्टता का, जो समतानुभूति मे निहित है, अनुसरण नही किया। यदि समतानुभूति का अनुसरण किया होता एव राष्ट्र-धर्म की अनुपालना की होती तो वर्तमान की शोचनीय स्थिति नही वनती तथा राष्ट्रीय चरित्र का इस सीमा तक अवमूल्यन न होता। नैतिकता का नारा तो अवश्य दिया जाता है लेकिन राष्ट्र धर्म को जीवन का अग मानकर तदनुकूल शिक्षण नही दिया जाता। नागरिको मे यह भावना उभरनी चाहिये कि राष्ट्र धर्म मेरे जीवन का आवश्यक अग है, जिसे मैं छोड़ नहीं सकता। मैं राष्ट्रीय सहिष्णुता को धारण करूँगा तथा अन्य नागरिको की हित साधना के प्रति असहिष्णु नही बल्कि उसमे सहायक बनूँगा। जब नागरिको के जीवन मे राष्ट्र धर्म की ऐसी निष्ठा-युक्त प्रतिष्ठा हो तभी राष्ट्रीय सहिष्णुता को प्रभावकारी सम्बल मिल सकता है। ऐसी स्थिति मे सहिष्णु नागरिको का सम्मान होना चाहिये। जिसे देखकर असहिष्णु नागरिक भी अपनी असहिष्णुता को त्याग राष्ट्रीय धारा में एक जुट होने लगे। समीक्षण ध्यान की राष्ट्रीय धरातल पर साधना करने का यदि अभ्यास किया जाय तो राष्ट्रीय सहिष्णुता अधिकाधिक पुष्ट एवं कल्याणकारी स्वरूप ग्रहण करने लगेगी।

७. पड़ौस की सहिष्णुता

संसार के प्रत्येय मानव को दूसरो के सहयोग की अनिवार्य अपेक्षा रहती है। साधनावस्था को अंगीकार करके चलने वाले महात्मा भी सामाजिक वायुमण्डल की अवस्था से सर्वथा विलग नहीं रह सकते तो फिर गार्हस्थिक अवस्था मे रहने वाले मानव का तो कहना ही क्या ? एक मानव जब संसार मे रहता हुआ भलीभांति अपना जीवन-यापन करना चाहता है तब जहाँ भी वह रहता है, उसका पास पडौस मे रहने वाले अन्य मानवो से सम्पर्क होता है। इस सम्पर्क के वाद सहयोग का सिलसिला भी जुडता है तथा पडौसियो के मध्य प्रेममय सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। यह सम्बन्ध पारस्परिक सहकार पर आधारित रहता है। सद्भावनापूर्वक सहकार उभय पक्ष के लिये हितावह होता है।

जैसे एक व्यक्ति का पडौसी दूसरा व्यक्ति होता है, उसी प्रकार एक परिवार का पडौसी दूसरा परिवार होता है। पडौसी का अर्थ है प्रतिवेश्मी—पास मे रहने वाला। इसी रूप मे समाज भी पडौसी होते हैं और राष्ट्र भी एक दूसरे के पड़ौसी होते है। जिस प्रकार व्यक्ति-व्यक्ति के वीच सद्भावनापूर्वक सहकार की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार का सहकार पडौसी परिवारो, समाजो तथा राष्ट्रों के वीच भी होना चाहिये।

यदि कही भी पड़ौस की सहिष्णुता का अभाव हो तो व्यक्ति से लेकर राष्ट्र तक का जीवन विश्वस्त एव शान्तिदायक नही हो सकता है। एक दूसरे के अस्तित्व को समानता के साथ स्वीकार करने के पश्चात् ही सद्भावना की अभिवृद्धि होती है। पडौसियो मे अगर समानता का अनुभाव न रहे तथा ऊँच-नीच या वैर-विरोध की भावना विद्यमान हो तो वहाँ सद्भावना एव सहिष्णुता का प्रसार संभव नही वनता। वैसी वृत्तियो से पडौसियो के वीच दुर्भावना ही जन्म लेती है जो उभय पक्ष को असहिष्णु बनाकर उन्हे शत्रुता की भूमिका पर खड़ा कर देती है। परिणामस्वरूप उन पडौसियो का वतमान जीवन अशान्तिमय, एक दूसरे से भयाक्रान्त, तुच्छ स्पर्धाओ से ग्रस्त एव दूसरे को नीचा दिखाने की जघन्य भावना से परिव्याप्त हो जाता है। वे अपने सर्वोच्च लक्ष्य को विस्मृत कर देते हैं। साथ ही भावी प्रजा का भविष्य भी विगाड देते हैं। ऐसी अवस्था मे व्यक्ति की क्षति से अधिक क्षति परिवार को और उससे अधिक क्षति समाज की होती है। परन्तु पडौसी राष्ट्र जव सघर्षशील वनते हैं तव हर प्रकार से वहुत वडी क्षति होती है। यह क्षति असहिष्णुता से उत्पन्न होती है, जिसे क्रोध उत्पन्न करता है।

क्रोध का समीक्षण विधिवत् तभी हो सकता है जव क्रोध के स्वरूप तथा उसके दुष्परिणामो का समीचीन ज्ञान प्राप्त किया जाय। इसे जाने विना तुच्छ

मे तुच्छ बातो पर भी क्रोध भड़क उठता है एव असहिष्णुतामय कटुता का वातावरण बना देता है। परिणाम यह निकलता है कि मानसिक नियत्रण डगमगा जाता है जिसके कारण स्व-पर के हिताहित का भान नही रहता।

इस दृष्टि से पडौस की सहिष्णुता का विकास व्यक्ति के स्तर से लेकर राष्ट्रीय स्तर तक अति आवश्यक है। सहिष्णुता का विकास होने पर पारस्परिक सहयोग का सम्बन्ध भी अधिक प्रेममय एव मधुर बन सकेगा। समीक्षण दृष्टि एवं समता के प्रसार के लिये वैसा वातावरण बहुत ही उपयुक्त रहेगा।

८ नैतिक सहिष्णुता

जो व्यवहार मानव को अपने जीवन के परमोच्च लक्ष्य की ओर अग्रसर करे वह नीति है। सामाजिक दृष्टि से जिस आचरण से परस्पर का सद्व्यवहार सधता हो, एक दूसरे का एक दूसरे के प्रति विश्वास बराबर निभता हो, कल्याणकारी सामाजिक विधानो की निष्ठापूर्वक अनुपालना होती हो, वह व्यवहार, नैतिकता कहलाती है। इस नैतिकता मे यदि भ्रान्तिवश अथवा किसी व्यक्ति के कदाचार के कारण विशृंखलता आती हो, उस समय मे सहिष्णुता की आवश्यकता होती है जिससे सद्भावना के साथ उस विशृंखल वृत्ति का उपशमन किया जा सके। सहिष्णुता के अभाव मे पारस्परिक व्यवहार अवरुद्ध हो सकता है और कटुता की भावना भी फैल सकती है। इस कारण केवल ऊपरी व्यवहार को ही नैतिकता का आधार-स्तभ न मान कर उसमे आत्मीयता तथा आध्यात्मिक भावो का पुट दिया जाना चाहिये।

जो व्यक्ति आत्मीयता के साथ नैतिकता का मूल्यांकन करता है, वह पारस्परिक व्यवहार को ही मात्र कसौटी न मान कर आन्तरिक अनुभूति को सबसे बड़ी कसौटी मानता है। आत्मानुभूति के साथ वह सोचता है कि मैं जो कुछ भी अन्य के साथ सद्व्यवहार कर रहा हूँ, वह मेरी अपनी आत्मशुद्धि के लिए पहले है। इस निमित्त से मैं अपने कर्मों का विमोचन कर रहा हूँ, अत. इस सद्व्यवहार के द्वारा मैं अन्य का कोई उपकार नहीं कर रहा हूँ। इसके निमित्त से मुझे स्वर्णावसर मिला है कि मैं पारस्परिक सहयोग से स्व-पर विकास साधू तथा अपनी सहिष्णुता मे वृद्धि करूँ। अतएव मेरा कर्तव्य बनता है कि जो सत्कार्य मैं करूँ और जिसके लिये करूँ, वह सर्वप्रथम मेरा ही हितकार्य है। मैं यह क्यो सोचूँ कि दूसरा मेरे प्रति सद्व्यवहार नहीं करता तो मैं उसके प्रति सद्व्यवहार क्यो करूँ? मुझे अपने लिए उपकार का प्रत्युपकार भी नहीं चाहिए। ऐसा सोचने और करने वाला व्यक्ति यथार्थ मे नैतिक कहलाता।

संसार मे इस प्रकार की नैतिकता का प्रसार हो तो सभी क्षेत्रों मे सर्वहितकारी व्यवस्था स्थापित हो सकती है। आज जो यह अनैतिक नैतिकता

है, वह एक दृष्टि से सच्ची नैतिकता नही कही जा सकती, क्योकि उसमे व्यक्तिगत स्वार्थ के कई हेतु समाये हुए रहते हैं। उन हेतुओ की सम्पूर्ति तक तो सद्व्यवहार चलता है लेकिन बाद मे व्यवहार पलट जाता है। यदि स्वार्थ पूर्ति मे विघ्न उत्पन्न हो जाय तो वही दिखावटी सद्व्यवहार असद्व्यवहार मे परिवर्तित हो जाता है। नैतिक सहिष्णुता और सद्व्यवहार वास्तविक वही कहलायेगा जो भले एक ओर से ही हो, फिर भी टूटे नही। नैतिकता का धनी यह अपेक्षा नही रखता कि सामने वाला भी वैसा ही व्यवहार करे। उसका सद्व्यवहार अपनी आत्मानुभूति पर आधारित होता है, सामने वाले के व्यवहार पर नही। सामने वाले के असद्व्यवहार को भी वह समभाव से सहन करता है तथा अपने सद्व्यवहार को न छोड़ने की आत्मीय निष्ठा को परिपुष्ट बनाता है। नैतिक सहिष्णुता इस प्रकार "वसुधैव कुटुम्बकम्" तक पहुँचाने वाली एक महत्त्वपूर्ण साधना बन सकती है।

६ साम्प्रदायिक सहिष्णुता

सम्प्रदाय शब्द की व्युत्पत्ति होती है—सम्यक्-प्रदाय। प्रदाय या प्रदान कई प्रकार का हो सकता है, परन्तु यहाँ पर प्रदान का तात्पर्य विचार एव सद्भावना के रूप मे है। सम्यक् अर्थात् सत्य विचारो का, एक-दूसरे को आदान-प्रदान करना। यह आदान-प्रदान भी समत्व भाव की साधना के लिये होना चाहिये। जब मानव विषमता की भट्टी मे झुलसता है तब वह अपनी उस जलन से बचने का मार्ग ढूढता है। वह उस समय यदि समता की पराकाष्ठा को पाने वाले विशिष्ट साधक का सयोग पा जाता है तव वह विषमता की समाप्ति तथा समता की प्राप्ति के लिये अपनी जिज्ञासा व्यक्त करता है। वीतराग विधि से जव उसे समतामय उपदेश सुनने को मिलता है तो वह उसे ग्रहण करने की अभिलाषा वनाता है। वीतराग-विधि को समग्र रूप से कोई विशिष्ट पुरुष ही ग्रहण कर पाते हैं। जन-साधारण की समझ उतनी गूढ नही होती है कि जिससे वे इस विधि को त्वरित गति से ग्रहण कर सकें। कदाचित् कुछ व्यक्ति ग्रहण करने वाले भी सामने आते हैं परन्तु समग्र विधि को एक साथ ग्रहण नही कर पाते हैं। कुछ विषय कुछ व्यक्ति ग्रहण करते हैं तो कुछ विषय अन्य व्यक्ति ग्रहण करते हैं। परिणामस्वरूप दोनो वर्गों के व्यक्ति अधूरे ही रहते हैं। अत ऐसे जिज्ञासु अलग-अलग न रहकर एक साथ अवस्थान कर लेते हैं एवं परस्पर सम्यक् विचार विनिमय द्वारा उस अवस्था को जीवन मे ढालने की कोशिश करते हैं। ऐसी जिज्ञासा वाले अन्य व्यक्ति भी उसमे सम्मिलित होकर समता के आधार पर व समन्वय के आधार पर राग-द्वेष को जीत लेने का प्रयास करते हैं। मगर सत्य का स्वरूप अतिशय विराट् है, अत पूरी तरह वह जब पकड मे नही आता तो सभी का दृष्टिकोण आशिक बन जाता है। कभी किसी विषय मे मतभेद या उलझन पैदा हो सकती है। वैसे तो महिला वर्ग, पुरुष वर्ग की अपेक्षा

राग-द्वेष से विमुक्त होने के लिये समता की साधना मे भाग लेने का अधिक इच्छुक होता है किन्तु उसमे भी आंशिक ज्ञान के कारण उलझनो का पैदा हो जाना स्वाभाविक है। उभय वर्गो की ऐसी उलझनो को समाहित करने की आवश्यकता रहती है। लेकिन वह समाधान समान स्तर के साधको मे होना शक्य नही होता। ऐसे समाधान की समाहिति के लिये उन सभी साधको को अपेक्षा रहती है कि कोई विशिष्ट साधक अपनी सत्संगति प्रदान करे जो परिपूर्णता की परिधि को पा चुका हो। ऐसा परिपूर्ण स्वरूप होता है, परम वीतराग अवस्था को प्राप्त करने वाले सर्वज्ञ एव सर्वदर्शी भगवान का, जो अपने आप मे तो कृतकृत्य हो चुके होते है किन्तु अन्य भव्य जनो के हित के लिये भी करुणा के सागर बनकर वीतरागता-पूर्वक समता के सर्वोच्च स्वरूप को प्राप्त करने का भव्योपदेश देते हैं। उनका उपदेश सामूहिक रूप से सार्वजनिक कल्याणार्थ होता है। अतः उनके उपदेश को मुमुक्षुजन अपनी योग्यता के अनुसार यथाशक्ति जीवन मे उतारने हेतु प्रयत्नशील बनें एव आत्म-कल्याण का मार्ग प्रशस्त बनाते हुए ऊर्ध्वमुखी स्वरूप के अनुगामी बने, एतदर्थ तीर्थंकर देव चार तीर्थ की स्थापना करते हैं जिससे चतुर्विध सघ की निर्मिति बनती है। उस सघ के साधको मे गुण कर्मानुसार वर्ग का स्वरूप भी सामने आता है। वह वर्ग चार विभागो मे विभक्त रहता है। यथा—साधु-साध्वी श्रावक एव श्राविका। साधु एव साध्वी ये दोनो वर्ग यथाशक्ति आत्म-साधना मे तन्मय होने के लिये पाँच महाव्रतादि नियमो को साकार रूप देकर चलते हैं। ऐसी क्षमता गृहस्थाश्रम का स्वरूप लेकर चलने वाले साधको मे नही होती। अतएव वे आंशिक अहिंसादि व्रतो को स्वीकार करके चलते हैं। उनमें जिनका भी प्रवेश होता है, उन सभी के दो वर्ग बनते हैं। श्रावक वर्ग और श्राविका वर्ग। इस प्रकार जिस चतुर्विध सघ की सरचना तीर्थङ्कर देव करते हैं, वही चतुर्विध संघ कहलाता है। उस सघ मे साधक तीर्थङ्कर देवो के द्वारा दिये गये उपदेश को हृदयगम करने के लिये परस्पर के विचारो का सम्यक् प्रकार से आदान-प्रदान करते है। उन साधको मे परस्पर के आदान-प्रदान करने पर भी सम्यक्रीत्या समाधान नही बन पाता है तो वे अनाग्रही बनकर तीर्थङ्कर देव के समीप पहुँचते हैं और तीर्थंकर देव जो समाधान देते हैं उनको वे सभी साधक सहर्ष स्वीकार करते हैं। तीर्थङ्कर देव की अनुपस्थिति मे तीर्थङ्कर देव के उत्तराधिकार को लेकर चलने वाले सघ नायक (तृतीय पद, आचार्य देव) के पास पहुँचते हैं और वहाँ उनका समाधान हो जाता है। क्योंकि उन सभी साधकों का वह वरिष्ठ पद है और चतुर्विध सघ का उस वरिष्ठ पद मे अनन्य विश्वास होता है। साथ ही तीर्थङ्कर देवों की अविद्यमानता की पूर्ति भी हो जाती है। अतएव जहाँ भी संघ है वहाँ पर सघपति अनिवार्य रूप से होते है। यह सघ भी एक प्रकार से व्युत्पत्त्यर्थक 'सम्प्रदाय" का द्योतन करने वाला है। इस सघ व्यवस्था मे रहता हुआ साधक आत्म-कल्याण करने मे सफलता प्राप्त करता है। इस प्रकार की व्यवस्था के अभाव मे साधको की स्थिति चिन्तनीय बन जाती है और वे स्वयं, स्वयं की

मति से कार्य करते हुए इतने आग्रहशील हो जाते हैं कि जिससे कषाय की अभिवृद्धि के साथ-साथ ससार की भी अभिवृद्धि कर बैठते हैं। ऐसे साधको का कदाचित् कोई समूह हो भी सही तो वह सम्प्रदायवाद की सज्ञा पाता है। व्युत्पत्तिपरक अर्थ से वह समन्वित नही होता है। अतएव सम्प्रदाय शब्द के व्युत्पर्थ से सम्बन्धित सघ (सम्प्रदाय) ही आत्म-शुद्धि मे सहायक होता है। ऐसे सघ मे केवल आध्यात्मिक लक्ष्यो की प्राप्ति हेतु सद्विचारो का आदान-प्रदान अहिसादि नियमो की स्वच्छ परिधि मे किया जा सकता है। स्वच्छ परिधि के अभाव मे वह सम्भव नही होता है। इसे एक उदाहरण से समझें। दस हजार पॉवर के प्रकाश को प्रकट करना है तो उसके अनुरूप ही स्वच्छ काच आदि के बल्ब की जरूरत होगी। यदि आवश्यक स्वच्छ काच आदि का प्रयोग न किया जाय और उसकी उपयुक्त परिधि नही बनाई जाय तो विद्युत् का कितना ही पॉवर क्यो न हो, उसका वाछित लाभ उठाया नही जा सकेगा। बल्ब की परिधि जब तक पूर्ण स्वच्छ नही होगी, उतना प्रकाश प्रकट नही किया जा सकेगा। अतएव अहिसादि की पवित्र मर्यादाओ मे रहते हुए जिस समूह का स्व-पर कल्याण हेतु समता प्रधान अनुसंधान चलता हो, वह सम्प्रदाय विश्व के कल्याण हेतु नितान्त आवश्यक है।

इस प्रकार के सवप्राणभूत हितकारी सम्प्रदाय मे पारस्परिक सहिष्णुता का भी पर्याप्त सामर्थ्य विकसित हो जाता है। कोई व्यक्ति कितना ही असहिष्णु बन कर और उत्तेजना प्रकट करके वैसे स्वच्छ सम्प्रदाय पर प्रहार करे और प्रतिशोध की आग भडकाना चाहे, लेकिन उस आवेशपूर्ण स्थिति मे भी वह स्वच्छ सम्प्रदाय पूर्णतया सहिष्णु बना रहता है तथा अपनी सहिष्णुता से उस व्यक्ति मे भी सहिष्णुता जगाने का उपक्रम करता रहता है। उस सम्प्रदाय के साधक असहिष्णुता के प्रति भी सहिष्णुता का ही परिचय देते हैं।

क्षमा, मैत्री, प्रमोद एव माध्यस्थ भावो को वह सम्प्रदाय सर्वोच्च स्थान देता है, जिनके आधार पर साम्प्रदायिक सहिष्णुता इतनी सक्षम हो जाती है कि वह अपने सद्व्यवहार से घोर असहिष्णुओ को भी सहिष्णु बना सकती है। ऐसे लोक कल्याणकारी सम्प्रदाय मे उन समूहो को अलग रखना होगा जो अर्थ दृष्टि की प्रधानता मे, सत्ता एव सम्पत्ति की लालसा से अथवा मानव जाति को विखडित करने वाले अधूरे मत-पथ की धुन से स्थापित किये जाते हैं। ऐसे सगठन अपने ही कपोल-कल्पित सिद्धान्तो का प्रतिपादन करते हैं, जिनमे मानव या प्राणी हित का लक्ष्य न होकर व्यक्तिगत वर्चस्व को ऊपर उठाने की लालसा होती है। सत्ता से सम्बन्धित जो ऐसे सगठन होते हैं, वे चाहते है कि राजसत्ता उन्ही के हाथो मे रहे। वे अन्य को सत्ता मे सहन नही कर सकते। अर्थ दृष्टि की प्रधानता वाले ऐसे संगठन भी आर्थिक स्रोतों को अपने ही अधिकार मे थामे रखना चाहते हैं और उनसे प्राप्त लाभो को भी इसी प्रकार केन्द्रीकृत बनाना

चाहते हैं। इस प्रकार के लिप्सु संगठन अत्यन्त असहिष्णु होते हैं और ईंट का
जवाब पत्थर से देना चाहते हैं। ये हिंसा, शस्त्र, विग्रह और युद्ध के उपायों मे
विश्वास रखते हैं तथा अपनी शक्ति के प्रदर्शन से साधारण लोगो को भयभीत
करते रहते हैं। ये समूह राग-द्वेष एव विषमता के गहरे रंग से स्वय रंगे हुए
होते हैं और सारे वातावरण को वैसा ही रूप देने की चेष्टा मे लगे रहते हैं।
इनकी सक्रियता की परिधियाँ कलुषित एवं कलंकित आवरणो से युक्त होती है।
ऐसे घेरो मे स्वच्छ प्रकाश का तो अभाव ही रहता है, इसका कारण यही है कि
इन सगठनों में असत् एव हिंसाकारी भौतिक सत्ता तथा सम्पत्ति सम्बन्धी ललक
ही होती है एव उनको प्राप्त करने के लिये असद् आचार-विचार की प्रधानता
रहती है। सम्प्रदाय शब्द का शुद्ध अर्थ तो उसे छू भी नही पाता है। फिर भी
आज ऐसे सगठन सम्प्रदाय के नाम से पुकारे जाते हैं, जिनका रूप असहिष्णुता
के साथ बाहर प्रकट होता है। ऐसी तथाकथित साम्प्रदायिकता के माध्यम से
हिंसा, अराजकता एवं अव्यवस्था आदि का ताण्डव जनमानस के सामने आता है।
ऐसी घृणा प्रसारिणी साम्प्रदायिकता की मनोवृत्ति का सुज्ञ पुरुष निषेध करते हैं
और उससे बचकर चलने का परामर्श देते हैं। वस्तुतः ऐसी साम्प्रदायिकता
सहिष्णुता समाज, राष्ट्र तथा विश्व के लिये अहितकर, अकल्याणकर एव हेय
होती है।

इस रूप में स्वच्छ सम्प्रदाय तथा सम्प्रदाय के नाम को बदनाम करने
वाले सत्ता व सम्पत्ति लिप्सु सगठनो के बीच रहे हुए भेद को गम्भीरता से समझ
लेने की आवश्यकता है। सम्प्रदाय शब्द की व्युत्पत्ति के साथ जो वास्तविक
व्याख्या की गई है उसकी गूढता को भी भलीभांति समझ लेने की आवश्यकता
है। वास्तविक सम्प्रदाय का मूलाधार अहिंसा, अपरिग्रह एव समता पर टिका
हुआ माना गया है, जो प्रत्येक मानव को शान्ति एव कल्याण का मार्ग दिखाता
है। ऐसा स्वच्छ सम्प्रदाय जाति, व्यक्ति, पार्टी आदि अथवा भौतिक सत्ता या
सम्पत्ति के आधार को कोई महत्त्व नही देता। वह तो चैतन्यमय जागृति तथा
कर्त्तव्य परायणता की अभिवृद्धि करते रहने मे लगा रहता है।

वस्तुतः सम्प्रदाय नाम मे बोधित होने वाला साधको का संगठन प्राणी-
मात्र के साथ आत्मीयता के व्यवहार का सन्देश देता है, समता की साधना को
व्यक्ति से लेकर परिवार समाज, राष्ट्र तथा विश्व तक प्रसारित करता है एव
स्व-पर-कल्याण की भावना को प्रगाढ बनाता हुआ सर्वोच्च परमात्मा पद को
प्राप्त कराने वाले पथ पर अग्रसर बनने की प्रेरणा प्रदान करता है। ऐसे ह
संगठन के सम्बल से परमात्मा पद को प्राप्त करने का सामर्थ्य भी अभिवृद्ध होत
है। भव्य और कल्याणकारी सहिष्णुता जिस साधक के आत्म-स्वरूप मे पल्लवि
और पुष्पित-फलित होती है, वह साधक समता लोक मे व्यक्तश्चेतना का साक्ष

त्कार करता हुआ एक न एक दिन उच्चतम परमात्मा का अधिकारी बन सकता है।

अतः साम्प्रदायिक सहिष्णुता के विज्ञान को हस चन्चु के समान मानना चाहिये जो अपने विवेक-विकास से दध और पानी को ही अलग नही करती बल्कि दूध-दूध के भेद को भी स्पष्ट कर देती है। दूध-दूध मे कितना ही भेद होता है। एक माता का दूध होता है तो गाय का दूध भी होता है। साथ ही भैंस, बकरी आदि के दूध भी होते है। सिहनी का दूध भी दूध ही कहलाता है तथा आकडे-धतूरे का दूध भी सफेद ही होता है और दूध के नाम से ही अभिहित होता है। लेकिन क्या सभी दूध एक से होते हैं ? दूध को मात्र नाम से ही नही बल्कि विवेकशील पुरुष गुणो से पहचानते है। वे हेय, ज्ञेय और उपादेय की दृष्टि से विश्लेषण कर यथायोग्य ग्रहण बुद्धि का परिचय देते हैं। इसी प्रकार साम्प्रदायिक सरचना के सम्बन्ध मे भी बुद्धिमान् पुरुषो को स्वय की विवेक-प्रज्ञा का उपयोग करना चाहिये तथा तुलनात्मक रीति से यथार्थ स्वरूप को पहिचान लेना चाहिये। वैसी स्थिति मे सहिष्णुता की कसौटी पर सूर्यालोक के सदृश सत्य वस्तुस्थिति का स्पष्ट ज्ञान हो जायगा।

१०. आध्यात्मिक सहिष्णुता

आध्यात्मिक साधना एक महत्त्वपूर्ण साधना होती है। इस साधना के साथ सम्बन्धित साधक को आध्यात्मिक सहिष्णुता का सामर्थ्य अर्जित करना ही चाहिये। इसके बिना आध्यात्मिक क्षेत्र मे गतिशीलता सम्भव नही होती है। आध्यात्मिक क्षेत्र मे जीवन का प्रवेश ही अति दुरुह माना गया है। क्योकि आत्म-स्वरूप की गहन परतो का उद्घाटन करने मे सक्षम होना उसके लिए अनिवार्य शर्त है। इस क्षेत्र मे तो गहरे से गहरे उतरते रहने की आवश्यकता होती है। उस अवस्था का साक्षात्कार उसी स्तर की गहनता मे डूबकी लगाने पर शक्य होता है। किन्तु अत्यन्त गहन विषय का बाह्य स्वरूप भी होता है। जैसे जमीन मे फैली हुई किसी वृक्ष की जडें बाहर नही दिखाई देती लेकिन शाखा-प्रशाखाओ और फूलो, पत्तो व फलो द्वारा उस वृक्ष का बाह्य स्वरूप दीखता ही है। उस वृक्ष की जड़ो का साक्षात्कार करने के लिए उसके बाहरी स्वरूप को ही सम्मुख रखकर अन्वेपण प्रारम्भ किया जाता है। इसे शास्त्रानुसार अनुमान प्रमाण कहते हैं। अगर जडें न होती तो फूल, पत्ते व फल भी नहीं होते। यदि वृक्ष की पत्तियाँ शुष्क हो अथवा रोग-ग्रस्त हो तो उन पत्तियो की प्रकृति के आधार पर वृक्ष के अदृश्य भाग की प्रकृति का अनुमान लगाया जा सकता है। उन शुष्क एवं रोग-ग्रस्त पत्तियो को देखकर अन्वेपणकर्ता खिन्न नहीं होता अपितु चिन्तन करता है कि एक ही वृक्ष पर दो किस्म की पत्तियाँ क्यों है ? एक किस्म की पत्तियो पर तो हरियाली की आभा है किन्तु दूसरी

किस्म की पत्तियो पर शुष्कता की रुक्षता है। इसका क्या कारण है? दोनो मे अन्तर होने के हेतु अलग-अलग होते हैं। यदि सूर्य की प्रखर किरणो से या शीत भरी हवाओ से पत्तियो के सूखने का प्रसग आता है तो पूरे वृक्ष की सभी पत्तियाँ सूखती हैं। परन्तु यह बाह्य निमित्त शुष्कता का कारण तब तक नही बन सकता, जब तक कि अन्तरग हेतु यथार्थ रूप मे रहे। अन्तरग हेतु यथार्थ रूप मे रहे तो सूर्य की प्रखर किरणे अथवा शीत भरी हवाएँ पत्तियो को सुखा नही सकती। जडो की ताकत से वे हरी भरी रहती हैं।

अन्वेषक साधक इस प्रकार के वृक्ष-विशेषो का जब अन्वेषण प्रारम्भ करता है तब वह दृश्य-भाग को माध्यम बनाकर ही आगे बढता है। यह उस साधक की सहिष्णुता अथवा असहिष्णुता होती है कि शुष्क के विषय पर चिन्तन करता हुआ कितनी गहराई तक पहुँच पाता है। इसे आध्यात्मिक सहिष्णुता कहेंगे कि वह शुष्क से विषयो पर चिन्तन करते हुए खिन्न अथवा असहिष्णु नही बनता है तथा चिन्तन की गहराइयो मे उत्साहपूर्वक गति करता हुआ चला जाता है। वही साधक आगे के अन्वेषण मे भी सफलता प्राप्त करता है।

मानव जीवन को भी एक प्रकार से वृक्ष की उपमा दी जा सकती है। इस जीवन की कई महत्त्वपूर्ण विशेषताए बताई गई है। समग्र विश्व मे आत्माए निज कर्मानुसार विभिन्न शरीर-पर्यायो को धारण करती हैं। उन सभी शरीर पर्यायो मे मानव शरीर को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। जन-साधारण की दृष्टि मे देव-शरीर का विशेष मूल्य माना जाता है, जो भौतिक समृद्धि तथा वैभव आदि की दृष्टि से वास्तव मे बढा-चढा हुआ होता है। लेकिन जो आत्मिक प्रगति मानव शरीर के माध्यम से साधी जा सकती है वह देव-शरीर से नही। मनुष्य शरीर पर्याय मे रहती हुई आत्मा ही सर्वोच्च साधना से सम्पन्न बन सकती है। भौतिक साधना की अपेक्षा आन्तरिक अर्थात् आध्यात्मिक साधना ही सभी साधनाओ मे श्रेष्ठतम होती है। अत आध्यात्मिक साधना ही सर्वाधिक महत्त्वशाली है।

आध्यात्मिक साधना के परिपूर्ण रूप से सध जाने पर अन्य सभी प्रकार की साधनाए स्वत ही सिद्ध हो जाती हैं। अवशेष कुछ भी नही रहता। इसीलिये कहा गया है—"एकै साधे सब सधे, सब साधे सब जाय।" महावीर प्रभु ने भी उद्घोषित किया है कि—

जे एग जाणइ, से सव्व जाणइ।
जे सव्वं जाणइ, से एग जाणइ॥

अर्थात् जो एक स्वरूप को सर्वाङ्गीण एव पूर्ण रूप से जानता है, वह समग्र स्वरूपो को सर्वांगीण एव पूर्ण रूप से जानता है तथा जो समग्र स्वरूपो को सर्वांगीण एवं पूर्ण रूप से जानता है, वही एक स्वरूप को सर्वांगीण एवं पूर्ण रूप से जानता है।

यहा जिस एक स्वरूप का सकेत किया गया है, वह स्वरूप अथवा तत्त्व आत्मा है। जो इस आत्म-स्वरूप को सर्वागीण एव पूर्ण रूप से जान लेता है तथा उसका साक्षात्कार कर लेता है, वह समग्र जड-चेतन, रूपी-अरूपी तत्त्व-स्वरूपो का विज्ञाता हो जाता है। ज्ञान का माध्यम आत्म-तत्त्व ही है। अन्य तत्त्व सवेदनशील न होने के कारण जड हैं। अत: अन्य का विज्ञाता रूप से माध्यम नही बन सकते है। आत्मा भी मानव-शरीर पर्याय मे रहती हुई योग्य विकास साध लेने के बाद ही स्वसवित्ति से समग्र विश्व का विज्ञान करने की क्षमता वाली बन सकती है। पहले वह निज की सवेदनशीलता को समझती है और फिर उसके आधार पर सम्यक् निर्णायिक शक्ति से सम्पन्न बनती है। इतना विकास साध लेने पर ही वह आगे की गति-प्रगति को साधने मे समर्थ बनती है। स्व-सम्यक् निर्णायिक शक्ति समता की भूमिका पर, सहिष्णुता की सीढियाँ चढ कर ही सम्पादित की जा सकती है। जैसा कि ऊपर मानव जीवन को वृक्ष की उपमा से उपमित किया गया है, उस उपमिति की दृष्टि से मानव पर्याय के अन्तरतम मे सत्ता रूप से समग्र स्वरूप को जानने की एव देखने की योग्यता शक्ति रूप मे विद्यमान है किन्तु आवृत बनी हुई है। उस योग्यता को अनावृत करने के लिये प्रारम्भिक अन्वेषण सामान्य जनो द्वारा अनुभूत दृश्यो से आरम्भ किया जाता है। आन्तरिक प्रतरो के बीच मे होकर आने वाली आन्तरिक ऊर्जा सामान्य जन के समक्ष विकृत रूप मे प्रकट होती है। उस विकृत रूप के दृश्यो को देह प्रकम्पन, टेढी भौहो, लाल नेत्र, फडफडाते हुए होठ और कटकटाती दत पक्ति के द्वारा वीभत्स एव उत्तेजित करने वाली प्रवृत्ति के साथ जब प्रकट किया जाता है, तभी सामान्य जन उस प्रवृत्ति को क्रोध के रूप मे पहिचान पाते हैं। बाह्य रूप से प्रकट होने वाली इस क्रोधावस्था को शुष्क एव रोगग्रस्त पत्तियो के समान समझें, जिन्हे देखकर आन्तरिक विकृत रूप के दृश्यो का अन्वेषण किया जाता हैं। जब अनुकूल अप्रशस्त राग के रूप मे मुखाकृति की वृत्तियाँ अनुभूत होने लगती हैं तब वे हरी-भरी पत्तियो के समान दिखाई देती हैं। इस प्रकार की दृश्यावस्थाओं से ही साधक अपनी अन्तर्यात्रा का अन्वेषण प्रारम्भ करता हुआ आन्तरिक स्वरूप मे या यो कहे कि आध्यात्मिकता मे प्रवेश करने का प्रयत्न करता है।

इसी सत्य का उद्‌बोधन महावीर प्रभु ने आचारांग सूत्र मे दिया है और बतलाया है कि "जे कोहदसी, से माणदसी"—जो साधक क्रोध को देखता है, वह मान को देखता है। इस कथन मे क्रोध को देखने का क्या अभिप्राय है ? कैसे देखता है क्रोध को देखने वाला मान को ? इसका कुछ भी स्पष्टीकरण उपलब्ध साहित्य मे दृष्टिगत नही हो पा रहा है। पूर्व के सुज्ञ पुरुषो ने इन सूत्रो के रहस्य को क्यो अभिव्यक्त नही किया, यह तो वे महानुभाव ही जाने, किन्तु वीतराग देवो ने जो इस सूत्र का सकेत दिया है, वह ज्ञान-विज्ञान के अनेक रहस्यो

से परिपूर्ण लगता है। इन्हे अनन्तगम वाले सूत्र भी कह सकते हैं। किन्तु उस अनन्तगम का जब तक अवबोध नही होगा, तब तक वीतराग देव के इनसे सम्बन्धित अमूल्य उपदेश का समीचीन लाभ नही उठाया जा सकेगा। उन गमो को बाह्य परिवेश मे अथवा भौतिक दृश्यो की स्थिति से पूरी तरह नही समझा जा सकेगा। उनका अवबोध करने के लिये अहिंसादि, आन्तरिक अनुसधानो के साथ समतानुभूति के आधार पर समझने का प्रयास किया जाय तो यथा विकास यथा योग्य अवस्थान से साधक समझ सकता है एव अन्तर्पथ पर चल पडने की क्षमता भी अर्जित कर सकता है।

इसी सदर्भ मे यहाँ यत्किचित् रूप मे अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया जा रहा है। इस प्रयत्न मे वीतराग देव के आशयानुरूप अभिव्यक्ति यदि सुज्ञो को प्रतीत हो तो वे इसको ग्राह्य मानकर अन्तर्पथ पर गति करने का उपक्रम करे।

क्रोध दर्शिता का अनुसधान

आचाराग सूत्र मे प्रभु महावीर ने जो यह फरमाया है कि—"जे कोह-दसी, से माणदसी" आदि, इसके सारगर्भित अर्थ को अन्तरानुभूति के गम्भीर क्षणो मे ही समझा जा सकता है। बाह्य पदार्थों के समान क्रोध को इन चर्म-चक्षुओ से देखपाना सभव नही है, परन्तु क्रोध कर्मवर्गणा के अन्तर्गत पौद्गलिक स्कन्ध स्वरूप ही होता है। वह जब सत्ता अवस्था मे रहता है, तब उसका अनु-सधान होना अति ही कठिन होता है, किन्तु जब क्रोध उदयावस्था को प्राप्त होता है उस समय उसकी परिणति स्थूल रूप को धारण कर लेती है, अर्थात् उसके लक्षण स्थूल रूप मे प्रकट हो जाते हैं। जिनके आधार पर उसे समझ लेना कठिन नही रहता। उस समय मन, वचन, काया की परिणति उस वर्गणा से प्रभावित होकर प्रवृत्त होती है। वह प्रवृत्ति जब शरीर के वाह्य भाग मे झलकने लगती है, तब अन्य व्यक्ति उसकी आकृति के क्रोध की अवस्था को अनुमान से समझ जाते हैं। वे उसे आन्तरिक अवलोकन से नही समझते हैं। अनुमान से उन्हे जो जानकारी उपलब्ध होती है, उस जानकारी को नीरस व शुष्क पत्तों की तरह देखते हुए वे उसके मूल को अन्वेषित करने के लिये प्रवृत्त होते हैं। कुछ क्षणो पूर्व उस पुरुष की आकृति हरी-भरी पत्तियो के समान मनोहर दिखाई दे रही थी, वही कुछ क्षणो के पश्चात् शुष्क पत्तियो की तरह रुक्ष क्यो हो गई ? यह किस हेतु का परिणाम था ?

क्रोध के प्रकटित वाह्य रूप को देखकर अनुसंधानकर्ता क्रोध रूपी वृक्ष की अतरग जडो को खोजने के कार्य मे आगे वढते हैं। भीतर मे दोनो अवस्थाओं का मूल एक ही मालूम होता है, पर दोनो की परिणति मे अन्तर दिखाई देता है। अभीप्ट पर–पदार्थ को आत्मीय भावना से प्राप्त करने पर हरियाली रूप

प्रसन्नता अभिव्यक्त हो रही थी। कुछ समय पश्चात् उसी प्राप्त अभीष्ट पर-पदार्थ के अपहरण अथवा विनष्ट होने का प्रसग उपस्थित हो गया तब उस अनभीष्ट अवस्था को समाप्त करने के लिये मूल से ही अग्नि-शस्त्र के समान जो परिणति अभिव्यक्त हुई, वही शुष्क पत्तियो के तरह की आकृति बनाने वाली सिद्ध हुई। अतएव इन दोनो का जो मूल है, वह क्रोध रूपी कर्म स्कध के रूप मे है। उस स्कन्ध को देखने के लिए उसके अनुरूप उसी धरातल पर प्रवेश पाने वाली दृष्टि की उपलब्धि अति आवश्यक है।

भौतिक वैज्ञानिक युग मे आपेक्षिक सूक्ष्म को देखने के लिये उसके अनुरूप सूक्ष्म दर्शक यत्र की आवश्यकता रहती है। वह सूक्ष्म दर्शक यत्र भी उस अवस्था से (दृश्य तत्त्व की अपेक्षा) कई गुना सूक्ष्म होता है। तभी वह उस सूक्ष्म को कई बडे आकार मे दिखा सकता है। यह तो एक भौतिक रूपक है, परन्तु अभौतिक अवस्था से अनुप्राणित क्रोध रूप स्कध को देखने के लिये अभौतिक सूक्ष्मतम यत्र के सदृश आन्तरिक दृष्टि के पैनेपन की आवश्यकता रहती है। वह आन्तरिक दृष्टि समता से युक्त तथा किन्ही भी कर्म-स्कधो से अप्रभावित होनी चाहिये। ऐसी दृष्टि का विकास जब तक नही होगा, तब तक पुरुष अभौतिकता से अनु-रजित कोध रूप स्कध को देख नही पाएगा। वैसी स्थिति मे वह वस्तुत' आन्तरिक अनुभूति से "कोह दसी" नही होगा। जो "कोह दसा" नही हो सकता, वह "माण दसी" भी नही हो सकेगा। इस दृष्टि से अन्तर्यात्रा के पथिक को चाहिये कि वह सबसे पहले अन्तराभिमुखी लक्ष्य बनाकर आन्तरिक अवस्थाओ को देखने का अभ्यासी बने। इस अभ्यास मे उत्साह की निरन्तर अभिवृद्धि हो और उस दृष्टि को पाने के लिये जागरूक अभिलाषा बनी रहे।

अभ्यास की इस पद्धति के लिये समय की भी अपेक्षा रहती है। नियत समय पर किया जाने वाला अभ्यास विशेष सबल बनता है। अभ्यास का मुख्य माध्यम मस्तिष्क होता है, जिसमे अनुवाशिक सस्कारो के साथ-साथ वर्तमान से सम्बन्धित वायुमण्डल-जनित सस्कार भी अपना प्रभाव रखते हैं।

वर्तमान कालिक वायुमडल की मुख्य धाराए विविध रूपो मे विभाजित हैं। दृष्टि प्रसार करने पर आज का ससार और उसके क्रियाकलापो का नक्शा मस्तिष्क मे जमने लगता है। पुन.-पुन: उन दृश्यो को देखते रहने से एक प्रकार के स्थायी भाव की अवस्था का निर्माण हो जाता है। वे मस्तिष्क मे अपना स्थान बना लेते हैं। ऐसा स्थान वे दृश्य अधिक बना पाते है जिन्हे आसक्ति भाव के साथ ग्रहण किया गया होता है। इन दृश्यो के केन्द्र तथा उपकेन्द्र भी भीतर मे स्थापित हो जाते है। इन केन्द्रो के माध्यम से मुख्य केन्द्र सक्रिय बना रहता है। उनके अनुरूप शब्द श्रवण की जिज्ञासा मस्तिष्क मे जागृत होती है। उस जिज्ञासा की पूर्ति के लिए मस्तिष्कीय शब्द केन्द्र की रचना भी निर्मित हो जाती है। उस केन्द्र की शाखा-प्रशाखाओ के माध्यम से तदनुरूप शब्द ग्रहण की

प्रणालिया भी एक टेप का रूप ले लेती हैं। वैसे ही शब्दो को ग्रहण करने में वे प्रणालिया तत्पर रहा करती है।

जब शब्द को आसक्तिपूर्वक ग्रहण किया जाता है तब तदनुरूप गध, रस और स्पर्श की प्रणालिया भो कार्यरत बन जाती हैं। इन सभी विषयो के पोषण के लिये खाद्य पदार्थ भी उनके लिये अन्वेषणीय हो जाते हैं। इन सबकी सम्पूर्ति आसक्ति के अनुरूप ही हो जाय—ऐसा भी प्राय नही बनता, तब फिर मानसिक विकल्पो का जाल मस्तिष्कीय वायुमण्डल मे व्याप्त हो जाता है। अहर्निश उन सकल्पो-विकल्पो के तानो-बानो मे ही जीवनी शक्ति का व्यय होता रहता है। परिणामस्वरूप अन्य किसी विशिष्ट शक्ति के जागरण का अवकाश ही नही रहता। शब्द, रूप, गध, रस, स्पर्श की इस प्रकार की प्रणालिया उनसे विपरीत दशा को स्थान देने मे रुकावटे डालती है, इसीलिये मनुष्य अधिकाशत. खोया-खोया सा यत्रवत् जीवन व्यतीत करता है।

मूर्छावस्था से जागृति

शब्द, रूप, गध, रस, स्पर्श की वासनायुक्त प्रणालियो से प्रभावित जीवन को एक दृष्टि से मूर्छा का जीवन कह सकते हैं। मूर्छा की अवस्था मे कई बार व्यक्ति कार्य करता हुआ भी देखा जाता है। उसकी उन कार्य पद्धतियो मे से कई पद्धतिया "काकतालीय न्याय" की दृष्टि से लोक-कल्याणकारी भी प्रतीत होती हैं और उनसे वह जन साधारण द्वारा सम्मान भी पा जाता है। वैसी दशा मे मूर्छा को अह वृत्ति की खुराक और मिल जाती है जिससे वह मूर्छाग्रस्त जीवन अपने आप को कृतकृत्य मान लेता है और सोच बैठता है कि मैं सब कुछ करने वाला हो गया हूँ—अब मेरे लिए कुछ भी कर्त्तव्य शेष नही रहा। इस प्रकार की तन्द्रावस्था मे सम्पूर्ण जीवन व्यतीत हो जाता है। मस्तिष्कीय-तत्रो की अस्त-व्यस्तता मे ही शारीरिक शक्तियाँ क्षीण होने लगती है। फिर उसमे कुछ करने का उत्साह भी नही रहता। परिणामस्वरूप ऐसा मूर्छाग्रस्त जीवन कल्पित अतृप्त वासनाओ मे ही मृत्यु के आगमन की प्रतीक्षा करने लगता है।

कई पुरुष शारीरिक शक्ति के विद्यमान रहते हुए ही विशिष्ट सत्पुरुषो से सम्पर्क करके स्वय मे कुछ जागृति लाने का साहस बटोरते हैं। मूर्छा से व्याप्त परिधि मे भी वे जागरण-केन्द्रो को जागृत करने का प्रयास करते हैं। उनका क्रम यह बनता है कि वे दिन-रात के चौबीस घटो मे से किसी भी शान्त प्रशान्त एक घटे के समय का चयन कर लेते हैं और उस समय मे नियमित रूप से एकान्त मे बैठकर अपनी मूर्छावस्था को विलग करने का पुरुषार्थ करते हैं। वे चेष्टा करते रहते हैं कि उनके आत्मस्वरूप की आदर्श अवस्था विकसित हो और वह दृढीभूत बने। उस समय मे दीर्घकाल से व्याप्त मूर्छावस्था से सम्बन्धित केन्द्र-उपकेन्द्र एवं उनकी अधीनस्थ प्रणालिया साधक की जागृतावस्था की अकुरित ज्योति पर

आक्रमण करती है। उस समय यदि साधक सावधान नही रहता है तो वह उन आक्रमणकारी प्रणालियों के अधीन हो जाता है तथा उन प्रणालियो मे ही अपनी साधना देखने लगता है। कुछ समय तक इस प्रकार की प्रक्रिया चलती रहती है। तब वह साधक स्वय हतोत्साह हो जाता है और सोचता है कि यह दृश्य जगत् ही सब कुछ है। अभौतिक तत्त्व का अस्तित्व भी उसके अन्दर मे दोलायमान हो जाता है। वह फिर आगे की सीढी पर चढकर जागृति के सूत्र को पकड नही पाता है।

इसके विपरीत कई साधक अपनी सामर्थ्य-शक्ति को पूरी तरह से व्यवस्थित बनाकर साधना के नियत समय मे उच्चतम चरम लक्ष्य को सम्मुख रखते हैं एव दृढ सकल्प के साथ साधना पद्धति को प्रारम्भ करते हैं। ऐसी दृढता के साथ वे मूर्छा जनित प्रणालियो के आक्रमणो को साहसपूर्वक झेलते हैं और उनके साथ सफल सघर्ष करते है। इस प्रकार अविचलित भाव से वे जागृति की दो-तीन सीढियाँ ऊपर चढ जाते हैं। उस समय कुछ स्थूलावस्थान के रूप मे रहने वाली विविध रगो से अनुरजित किन्ही ज्योतियो के देखने का प्रसग आता है। वहाँ यदि वह साधक सजग नही रह पाया और उतनी ही उपलब्धि को ही अपनी समग्र उपलब्धि मानने के भ्रम मे पड गया तो उस अवस्था मे मूर्छाजनित प्रणालियाँ साधक के आशिक जागृति स्वरूप को दबोच लेती हैं। तब वह आन्तरिक अनुभूति रूप समतामय दृष्टि का वरण नही कर पाता है।

कुछ साधक अपनी आन्तरिक शक्ति के प्रबल जिज्ञासु बनकर साधना के पथ पर आगे बढने का प्रयत्न करते हैं तथा सद्‌गुरु का सान्निध्य पाकर उनकी छोटी से छोटी अनुभूति को हृदयगम करने लगते हैं। वे उनके आदेश-निर्देश को उपेक्षा भाव से श्रवण नही करते। वे दृश्य वस्तुओ से विलग होकर उनके प्रति बनने वाली आसक्ति को मध्यस्थ भाव के साथ अवलोकन करने की चेष्टा करते हैं। अहर्निश की दिनचर्या का वे प्रतिदिन निरीक्षण-परीक्षण करने का भी ध्यान रखते हैं। वे निरर्थक कार्यों मे अपनी अमूल्य शक्ति का अपव्यय नही करके समभाव के साथ आत्मस्वरूप को आलोकित करने का यत्न करते है। कौन पुरुष किस प्रकृति का है तथा किस लहर मे वह कर वह कार्य कर रहा है, इस तथ्य का वह साधक अवलोकन करता है तथा उसका कार्य अपनी वृत्ति के प्रतिकूल होने पर भी वह अपनी समभाव की वृत्ति को खडित नही होने देता। उसके साथ यथायोग्य आत्मीयता पूर्ण व्यवहार करता है। "आत्मवत् सर्वभूतेषु" उसका चिन्तन बन जाता है। उसी चिन्तन धारा मे वह साधक सोचता है कि "उसकी आत्मा भी मेरी आत्मा के तुल्य ही है लेकिन वह आनुवाशिक सस्कारो एवं पूर्वकृत कर्मो के प्रभाव से सुषुप्त है। उसकी सुषुप्ति कैसे दूर हो, उसके लिये मैं अपनी स्थिति में रहता हुआ प्रयत्न करूँ। वह जागृत हो सकेगा या नहीं, यह मुझे नहीं सोचना है। मुझे तो इसके निमित्त से अपनी आन्तरिक पवित्र दृष्टि

का सृजन कर लेना है । वह जितना-जितना मेरे प्रतिकूल व्यवहार करेगा, उतना उतना मुझे अन्तरावलोकन का अवकाश मिलेगा । यदि किसी समय उसके व्यवहार को देखकर मन मे झु झलाहट पैदा हो गई और उसको तिरस्कृत करने के लिए शब्दो का झटका दे दिया तो उसकी दुष्प्रवृत्ति बढेगी ही, साथ ही कुछ समय से प्रवाहित हो रही मेरी आन्तरिक शक्ति को जागृत करने वाली धारा भी टूट जायगी । तब उसकी क्षति की अपेक्षा मेरी क्षति अधिक होगी । इस प्रकार यदि बार-बार प्रतिकूल अवस्था को समभाव से मैं सहन करता रहूँगा तो आन्तरिक विकास की मेरी अभ्यास पद्धति एक दिन सफल होकर रहेगी ।"

इस प्रकार का चिन्तन जो साधक करता है और चिन्तन अनुरूप अपने आचरण को ढालता रहता है, उसकी मूछ जनित प्रणालियाँ शनैः-शनै क्षीण प्रभावी होने लगती हैं एव जागृति के केन्द्र बल पकडने लगते है। तब उस साधक के चरण मूर्छावस्था से स्थायी जागृति की ओर बढते चले जाते हैं ।

आभ्यन्तर शक्ति का विकास

आभ्यन्तर शक्ति का सृजन जीवन की सम्पूर्ण सृजनात्मक वृत्तियो से ही सम्भव होता है । ऐसी वृत्तियो का निर्माण करने के लिये निरन्तर उपयोग की आवश्यकता होती है, जो एक सजग प्रहरी के समान सदा सतर्क रहे । इस सृजनात्मक वृत्तियो के प्रतिकूल अन्य जितनी भी वृत्तियाँ उभरकर सामने आएँ सतत जागृत उपयोग उनको आन्तरिक शक्ति की धारा को खडित न होने दे । उसका सावधान प्रयत्न रहे कि वह धारा अवाध गति से बहती-बढती चले । वह उस धारा का समुचित सरक्षण भी करे तो समीक्षण दृष्टि के साथ अन्य वृत्तियो का अवलोकन एव विश्लेषण भी करे । उन वृत्तियो को उनके गुण-बल के अनुसार विभाजित करके वर्गीकृत करले और उनकी क्रियाओ का सूक्ष्म निरीक्षण करता रहे । साधक का ऐसा उपयोग सदा और सर्वत्र जागृत रहे ।

सतत जागृत उपयोग की सक्रियता से साधक यह देखने के अपने यत्न मे सफल हो सकेगा कि विभिन्न वर्गों की समस्त वृत्तियो मे कितनी वृत्तियाँ मूर्छाभाव का प्रतिनिधित्व करने वाली हैं । समीक्षण दृष्टि से उसे यह भी ज्ञात हो जायेगा कि कौनसी ऐसी वृत्तियाँ हैं जो ऊपर से तो मेरी जागृति के लिये हितावह होती हैं परन्तु वे छल-बल से अमुक दृश्य पदार्थ की आसक्ति की तरफ मुझे धकेल कर मेरी प्रवर्धमान समतानुभूति को प्रभावित करना चाहती हैं । वह यह भी देख सकेगा कि यदि उन वृत्तियो से मेरी प्रवर्धमान समतानुभूति किसी भी रूप मे प्रभावित हो गई और मैं सामान्य रूप से भी मूर्छाग्रस्त हो गया तो उपलब्ध की हुई समग्र समतानुभूति भी विच्छिन्न हो जायगी । यह देख कर अपने वर्गीकरण मे सशोधन करता चला जाता है तथा अपने उपयोग मे सावधानी को बढा लेता है ।

इस प्रकार आन्तरिक अवस्थान मे एक प्रकार का सघर्ष चलने लगता है। एक ओर मूर्छाजनित प्रणालियाँ आक्रामक रूप धारण किये रहती हैं तो दूसरी ओर आन्तरिक ज्ञान एव समतानुभूति के केन्द्र उन आक्रमणो को विफल बनाते रहते हैं। इस सघर्ष मे आभ्यन्तर शक्ति का श्रेष्ठतर विकास सम्पादित होता चला जाता है। आभ्यन्तर शक्ति के उत्तरोत्तर विकास के साथ साधक मे यह क्षमता उत्पन्न हो जाती है कि वह आसक्तिजनित भावो को ज्ञान केन्द्रो तथा उप-केन्द्रो पर से दूर करना आरम्भ करता है और जहाँ-जहाँ आसक्ति का रस या रग उसे दिखाई देता है, वहाँ-वहाँ वह समभाव के रस या रग का प्रसार कर देता है। इस प्रकार जैसे प्रकाश फैलने पर अन्धकार विलीन हो जाता है, उसी प्रकार आसक्ति जनित वृत्तियाँ और प्रणालियाँ आन्तरिकता के प्रागण से विलीन हो जाती है।

समभाव एवं समीक्षण दृष्टि

जब साधक का समभाव प्रबल बन जाता है तब समीक्षण दृष्टि तीव्र एव सतर्क बन जाती है। वह बाहरी ससर्गों से उत्पन्न होने वाली बाधक वृत्तियो का सफलतापूर्वक परिमार्जन करता रहता है। क्योकि निरन्तर आगे बढते रहने की उसकी अभिलाषा बलवती बन जाती है। वह सोचता है कि मेरा समभाव तथा मेरी समीक्षण दृष्टि अभ्यास के समय मे जितनी सवर्धित रहती है, वैसा ही उनका प्रभाव अन्य समय मे भी बना रहे, जिससे मैं कभी भी बाधक वृत्तियो के होने वाले आक्रमण को विफल कर सकूँ। जो वृत्ति विषम वृत्ति के साथ मेरे प्रतिकूल चलें, उनकी प्रतिकूलता को भी मैं अपनी सहायिका मानकर कार्य करूँ। उनके प्रति मेरी आभ्यन्तर शक्ति का ऐसा प्रभाव हो कि आक्रान्ता वृत्तियाँ अपना आक्रमण-भाव छोडकर अस्तित्वहीन होती जाएँ। कदाचित् उन वृत्तियो की जडें अधिक गहरी हो और उनमे जल्दी परिवर्तन की सम्भावना न हो तो मैं यह सतर्कता रखूँ कि वे बाधक वृत्तियाँ मेरे आभ्यन्तर विकास मे हीन भावना पैदा न कर सके। समभाव एव समदृष्टि के साथ मे उन बाधक वृत्तियो के आक्रमणो को सहन करता रहूँ तथा जब भी काललब्धि परिपक्व हो जाए, उन वृत्तियो को अस्तित्वहीन बना दूँ।

समभाव एव समीक्षण दृष्टि के फलस्वरूप जब ऐसा चिन्तन साधक का चलता रहेगा तो मन-मानस मे दुर्बलता का प्रवेश नही हो सकेगा एव आभ्यन्तर विकास निरन्तर पुष्ट तथा बलवान् होता चला जायगा।

क्रोध की विफलता के सूत्र

क्रोध की चिनगारी भीतर से उठते ही कैसे बुझा दी जाय और क्रोध को बढकर बाहर प्रकट हो सकने का अवसर ही न मिले, यह साधक की आभ्यन्तर

विकास-दशा पर निर्भर करता है। क्रोध की विफलता के सूत्र उसके आन्तरिक चिन्तन से ही उद्‌भूत होते हैं।

जब साधक पर विषमता का किसी व्यक्ति अथवा वृत्ति द्वारा आक्रमण हो तो उसके चिन्तन की धारा इस प्रकार चलनी चाहिये—"ये विषय वृत्तियो वाले व्यक्ति मुझ पर अपनी विषमता का प्रयोग करके मेरी सहिष्णुता की परीक्षा करना चाहते हैं। यदि मैं असहिष्णु बन जाऊँगा तो फिर ये अधिक विषम प्रहार करना प्रारम्भ कर देंगे। मैं इनके विरोध मे जितना क्रोध और रोष करूँगा, तिरस्कार और ताडना तक बढूँगा, उतना ही मेरा अमूल्य जीवन-तत्त्व नष्ट होता जायगा। मेरी सफल साधना छिन्न-भिन्न हो जायगी, क्योकि क्रोध जनित क्रिया प्रतिक्रियाओ का क्रम तभी टूटता है जब जीवन ऊर्जा विलुप्त हो जाती है। मेरा क्रोध मेरे ही रक्त को विषाक्त बना देगा, मस्तिष्क के ज्ञान केन्द्रो को आग लगा देगा और दीर्घ आयुष्य को क्षति पहुँचाएगा। सद्‌गुणो की फसल उगाने वाली मेरी मानस भूमि को यह विनाशकारी क्रोध ऊसर बना देगा। मैं अपने सशक्त साधनो से दुनिया को अपने क्रोध की जीत भी दिखा दूँगा तो क्या वह जीत वास्तविक होगी? क्या मैं उस जीत के वाद अपने ही अन्तःकरण मे नगा और उद्दण्ड नही दिखाई दूँगा? विषम वृत्ति वाले व्यक्तियो को वाहर से पछाड करके भी क्या मैं उनकी विषम वृत्ति को पछाड सकूँगा? वह विषम वृत्ति तो तब अधिक प्रतिशोधात्मक वन जायगी। दूसरी ओर क्या मैं भी विषम वृत्ति की आग मे नही जलने लगूँगा? तव फिर ऐसे क्रोध को मैं उठने ही क्यो दूँ? क्यो न उसकी उठती हुई पहली चिनगारी को ही भीतर ही भीतर बुझा दूँ और भीतर वाहर की अपनी शान्ति को तनिक भी भग न होने दूँ।?"

क्रोध को विफल बना देने वाला यह सूत्र विषय वृत्ति वाले व्यक्तियो को भी प्रभावित करेगा और उन्हे समवृत्ति की दिशा मे मोड देगा।

साधक की चिन्तन धारा पूर्वकृत् क्रोध के परिमार्जन रूप मे भी चलती रहनी चाहिये, यथा—"मैंने व्यर्थ ही क्रोध किया तथा रोष के वशीभूत होकर अपने व्यवहार को विकृत बनाया। मैंने इस प्रकार अपने तन-मन को झुलसाया और जीवन को भी दूपित किया। मेरा पारिवारिक गौरव खडित हुआ, मेरी सामाजिक प्रतिष्ठा आहत हुई और मैं राष्ट्र की गरिमा को भी भूल गया। मैं सिर्फ अपने ही अहभाव तथा ममत्व मे डूव गया और इस प्रकार अपने आभ्यन्तर विकास की महान् क्षति के नीचे दव गया। अहकार के नशे को ही मैं अपनी जीत मान रहा था। यह कैसी विडम्वना थी। यह तो मेरी हार थी, क्योकि विजय तो उस पुरुप की हुई जिसने मेरे विद्वेषपूर्ण वचनो तथा क्रोध की फुफकारो के उपरान्त भी प्रतीकार के रूप से एक भी शब्द नही कहा, वल्कि मुस्कराता रहा। उसने तो अपनी समता की शक्ति वढा ली और मैं विपम वनकर समता

की शक्ति खो बैठा। यह मैंने भयकर भूल की है। मैं सकल्प करता हूँ कि भविष्य मे कभी ऐसी भूल फिर न हो।"

यह विचारणा क्रोध को विफल करने मे वडी प्रभावशालिनी सिद्ध होगी। इस विचारणा मे आन्तरिक सघर्ष मे समत्व की शक्तियो को वल मिलेगा तथा विपमताजनक शक्तियाँ दुर्वल वनकर धीरे-धीरे विलीन हो जाएँगी। साधक की यह विचारणा जितनी अधिक पुष्ट होती जायेगी, वह भविष्य मे अधिकाधिक सुदृढ भी वनती जायेगी। तव साधक की चिन्तन धारा इस रूप मे प्रवाहित होने लगेगी कि मैं अपने अन्तरग मे रहने वाली विषम-प्रवृत्तियो को रूपान्तरित कर लूँ, जिससे आसक्ति जनित केन्द्र, उपकेन्द्र तथा उनकी प्रणालियाँ सक्रिय न हो सकें और न वे मेरे शरीर तथा मेरी मासपेशियो को उत्तेजित वना सकें। बाहरी प्रवल निमित्त पाकर भी ये प्रणालियाँ निष्क्रिय बन जाय। घर मे बारूद भले भरा हो, अगर वाहर का कोई निमित्त उसे भडकाने वाला न पैदा हो तो उस बारूद मे घर का कोई विगाड नही हो सकता है। वाहर के निमित्त से ही बारूद भडक कर घर को नष्ट-भ्रष्ट कर सकता है। अत' मैं किसी वाहरी निमित्त को आग की चिनगारी न वनने दूँ। साथ ही वारूद रूपी विपम वृत्तियो को मैं सम मे रूपान्तरित करना आरम्भ कर दूँ ताकि घर को कभी कोई खतरा न हो। तव मेरी आभ्यन्तर शक्ति एक विशाल सागर का रूप ले लेगी, जिसमे कितने ही आग के गोले फेंके जाएँ, सागर का कुछ नही विगड़ेगा और वे आग के गोले बुझकर फेंकने वालो को शान्ति की राह दिखा सकेंगे। जव मैं रूपान्तरण को पूर्णतया सफल वना दूँगा तव क्रोध को पूरी तरह विफल भी कर दूँगा और सच्चा "कोह दसी" भी वन जाऊँगा। यही मेरी सच्ची विजय होगी।

इस प्रकार का समीक्षण ध्यान यदि साधक निरन्तर करने लगे तो अल्पावधि मे ही वह क्रोध-समीक्षण कर लेगा तथा क्रोधजयी वन जायगा।

क्रोध की तात्कालिक विफलता के भी पाँच सूत्र बताये गये हैं —

१. एकान्त मे चले जाएँ

क्रोध के भडकते ही उठकर एकान्त मे चले जाएँ ताकि क्रोध को वरसने का अवकाश नहीं रहेगा। जव कोई लक्ष्य सामने नही रहेगा तो स्वत ही वह शात हो जायगा।

२. मौन हो जाएँ

इस समय मौन धारण करलें ताकि वाचिक एव कायिक प्रभाव तो समाप्त हो ही जायगा।

३ क्रोध विरोधी चिन्तन आरम्भ करदें

तब मानसिक सकल्पो को भी उत्तेजित होने से रोकने के लिये क्रोध विरोधी चिन्तन आरम्भ कर दें ताकि क्रोध का विस्तार सभी द्वारो से बन्द हो जाय।

४. कार्य मे प्रवृत्त हो जाएँ

अपेक्षाकृत शान्त भाव आते ही किसी भी कार्य मे लग जाएँ ताकि क्रोध का अवशिष्ट प्रभाव भी थोडे समय मे समाप्त हो जाए।

५. श्वास निरोध क्रिया कर

शरीर और मन पर से क्रोध के बाहरी विषाक्त प्रभाव को दूर करने के लिए दो चार मिनिट तक श्वास निरोध क्रिया सचालित करें ताकि (स्वाभाविक स्थिति उत्पन्न हो जाए) हल्कापन लौट आए।

निर्विकार अन्तर्दृष्टि

निर्विकार अन्तर्दृष्टि ऐसी दृष्टि को कहेगे, जिसमे विकार का लेश मात्र भी न हो। उसके सामने चाहे जितना विकारपूर्ण प्रदर्शन उपस्थित हो जाए, इन्द्रियो के माध्यम से व्यक्ति के भीतर मे सुषुप्त विकार भले स्मृति-पटल पर उभरने लगें, पर वे विकार कार्य रूप मे परिणत न हो सकें। उनको कार्यान्वित न होने देने की क्षमता जिस अनुभूतिमय दृष्टि मे पैदा हो गई है, वही निर्विकार दृष्टि का रूप ले लेती है, क्योकि वह दृष्टि उन विकारपूर्ण दृष्टियो की प्रचुरता मे से ही विकसित होती है। इसलिये विकारो के क्या और कैसे दुष्परिणाम होते हैं, इसका वह दृष्टि प्रत्यक्ष अनुभव ले चुकी होती है। पूर्वानुभव के कारण ही ऐसी निर्विकार दृष्टि विकारपूर्ण वृत्तियो का कुप्रभाव शरीर की मास-पेशियो पर नही होने देती है। स्मृति-पटल पर ही वे विकार सशोधित परिवर्तित हो जाते हैं। उनमे से निस्सार वृत्तियाँ विलग हो जाती हैं तथा सारपूर्ण वृत्तियाँ उसी अनुभूति की पुष्टिकारक बन जाती हैं।

प्रतिदिन नियत समय पर एकाग्रतापूर्वक यत्न किया जाय तो ऐसी निर्विकार अन्तर्दृष्टि का शनैः-शनैः विकास किया जा सकता है। प्रारम्भ में विकारी वृत्तियो को अनावृत करने के लिये परिपूर्ण निर्विकारी तत्व का ध्यान करना होता है। जिस केन्द्र पर उसका ध्यान किया जाय, उसी पर प्रतिदिन, नियत समय पर ध्यान लगाने की आवश्यकता होती है। प्रारम्भ मे एकाग्रता जमने मे कठिनाई आती है, क्योकि वहाँ कुछ भी दिखाई नही पडता है। परन्तु साधक दृढ सकल्प के साथ परिपूर्ण उत्साह से भरकर उपयोग को वहाँ टिकाये

रखने की कोशिश करता है तो कुछ समय बाद वहाँ उनकी काली छाया दीखने लगती है, जैसी अन्धकार से परिपूर्ण रात्रि के समाप्त होने के समय दिखाई देती है जिसे देखते-देखते वही कालिमा धीरे-धीरे लालिमा मे रूपान्तरित होती हुई प्रतीत होती है। तब ध्यान के समय मे कभी काली छाया तो कभी लालिमा आती जाती रहती है। फिर धीरे-धीरे कालिमा हल्की होती जाती है तथा लालिमा चमकदार बनती जाती है। उसी चमक की वृद्धि के साथ फिर सूर्य की किरणे दिखाई देती हैं। उस केन्द्र पर काले रग के बाद उसके स्थान पर नीला तथा फिर हरा रग प्रकट होता है। यह हरा रग गहरा होकर हरीतिमा के समान मनोहर हो जाता है। तदनन्तर विचित्र प्रकार के रगो की स्थिति प्रकट होती रहती है और उन्ही के बीच मे जाज्वल्यमान ज्योति प्रतिभासित होती है। उसके पश्चात् यदि साधक धैर्य का सम्बल लेकर गम्भीरतापूर्वक इनको पचाता हुआ दीपक के तुल्य लालिमा मे प्रवेश करने की योग्यता अर्जित कर लेता है तो निर्विकार अन्तर्दृष्टि की किरणें स्पष्ट रूप से दृश्यमान होने लगती है।

यदि साधक इस अभ्यास क्रम को बिना किसी थकान के बढाता रहे और अकुर के रूप मे प्रकट हुई निर्विकार-दृष्टि का प्रतिदिन सपोषण एव सबर्धन करता रहे तो उसकी निर्विकार दृष्टि निरन्तर बढती रहती है। उसका प्रभाव तब अन्य केन्द्रो पर भी पडने लगता है। पहले पहल कुछ समय तक उसमे उपयोग स्थिरता प्राप्त करनी होती है। फिर कुछ काल के पश्चात् साधना के नियत समय से भी आगे परिपूर्ण समय तक उपयोग की स्थिरता स्थायी बन जाती है। उसके बाद उसी अभ्यास क्रम से उसमे प्रगाढ आनन्दाभूति एव शत्रु-मित्र के प्रति समभाव की वृत्ति इतनी सु-व्यवस्थित हो जाती है कि साधना-काल के अतिरिक्त समय मे भी उसी प्रसन्नता के साथ निर्विकार दृष्टि का अनुभव होने लगता है। साधक इसी गति से आगे बढता रहे तो चलते-फिरते, खाते-पीते, उठते-बैठते, सोते-जागते आदि प्रत्येक अवस्था मे उसे निर्विकार दृष्टि की सुखद अनुभूति होने लगेगी। तब एक प्रकार से साधक का जीवन उन अनुभूतियो के साथ एकमेक हो जाता है।

फिर उस साधक के सामने कोई भी प्रसग आए, कितनी ही विकट परिस्थितियाँ पैदा हो, कैसा भी दूषित वातावरण निर्मित हो गया हो, उसकी आनन्दानुभूति मे किसी प्रकार की स्खलना नही पहुँच सकती। साधक अपने ऊपर पूर्ण नियन्त्रण स्थापित कर लेता है। वह अवस्था उसके जीवन को सफलीभूत बनाने मे सक्षम हो जाती है। उस निर्विकार दृष्टि मे निर्विकार तत्व ही भासित होने लगते हैं। विकारी तत्वों के भीतर मे भी वह दृष्टि निर्विकार अश को ही सम्मुख रख कर उसका प्रकटीकरण करती है। अतएव घनीभूत विकारो मे भी वह यत्किचित् निर्विकार तत्व ही ग्रहण करती है। जैसे रत्नो का वास्तविक पारखी काच के टुकडो मे से रत्न को खोज निकालता है या कंकडो के बीच

मिट्टी से लिप्त होने पर भी रत्न को खोज लेता है अथवा कीचड़ मे दबे रत्न को भी पहिचान लेता है। परन्तु उन काच के टुकडो, मिट्टी-ककडो या कीचड से अपने आपको प्रभावित नही होने देता है। उसकी दृष्टि पवित्र रत्न को खोजने मे ही लगी रहती है। अतएव दुर्गन्धमय अशुचि से लिपटे रत्न को भी वह उठा लेता है, पर अशुचि से घृणा और विद्वेष नही करता, वैसे ही निर्विकार दृष्टि से सम्पन्न उपर्युक्त प्रकार का साधक गन्दे से गन्दे शरीर वाले व्यक्ति को देखकर भी उससे किंचित् मात्र भी घृणा नही करता, चाहे वह भयकर कुष्ठ रोग से ही पीडित क्यो न हो। उसके शरीर मे स्थित निर्विकार तत्त्व को ही महत्त्व देता है। रोगो की दुर्गन्धमय अवस्था को देखकर भी वह अपनी निर्विकार दृष्टि मे किसी भी प्रकार की घृणा विद्वेषादि की विकृति नही आने देता है। वह उसकी शारीरिक अवस्था के कारणो को तटस्थ भाव से चिन्तन मे लेता है। वह सोचता है कि इस आत्मा ने पूर्व मे घृणा, विद्वेष, क्लेश आदि विकारपूर्ण वृत्तियो से अपने अन्तःकरण को कालिमामय बनाया होगा जिसके फलस्वरूप ही उसके ऐसे कर्मों का बन्धन हुआ। अब उन्ही कर्मों के उदय का प्रसग आया लगता है। यह आत्मा इन रोगो की उपस्थिति मे दु.ख पा रही है और हाय-विलाप करते हुए कर्मों का भोग ले रही है एव दुर्ध्यान करते हुए पुन वैसे ही कर्मों का बन्धन कर रही है। अज्ञानी आत्माओ के लिये ऐसा सिलसिला चालू रहता है। रोग की रोग से वृद्धि होती है, क्योकि रोग के हेतुभूत भावो मे विषमता होने से कर्म बन्धन भी पुन. वैसे ही होते है। फिर उन कर्मों का उदय आने पर पुनः वैसा ही कुध्यान चलता है। उस समय अधिक क्लिष्टता आने से कभी-कभी पूर्वापेक्षा भी अधिक जटिल कर्मों का बन्ध हो जाता है। यह मिथ्यात्वी आत्माओ की दशा की अनादिकालीन शृखला चक्रव्यूह की तरह अटूट रूप से चलती रहती है।

कभी सत्पुरुषो के सम्पर्क से, सत्शास्त्रो के वाचन-मनन से अथवा काललब्धि की प्राप्ति से ऐसी आत्माओ को सद्वोध प्राप्त हो सकता है। उस सद्वोध मे सम्यक् दृष्टि की प्राप्ति के साथ भावो का परिमार्जन होने लगता है। वे तव अपने आप मे स्थिर होने की कला भी सीख लेती हैं और उस अनादिकालीन मिथ्यात्व दशा की शृंखला को तोडकर स्व-स्वरूप की ओर अग्रसर होने लगती है। जिन कारणो से कर्म बन्धन का सिलसिला चल रहा था उन कारणो को तव वे समाप्त करने की कोशिश करती हैं। फिर वे अपनी भावशुद्धि, वचनशुद्धि तथा आचरण शुद्धि भी करती रहती हैं।

शान्ति और प्रेम का वायुमण्डल

क्रोध-समीक्षण एव क्रोध-त्याग के अभ्यास क्रम के पश्चात् साधक के चारो ओर का वायुमण्डल शान्ति और प्रेम के अनुभवो से ओत-प्रोत होने लगता है। अपने अभ्यास क्रम मे वह व्यक्ति क्रोध का अविवेकपूर्ण दमन नही करता, वल्कि

पूरे विवेक एवं सद्भाव से उसका शमन करता है। वह समतापूर्वक चिन्तन करता है कि विकृत अथवा विषय निमित्तो को देखकर या उनके समीप मे रह-कर भी मैं अपने परिणामो मे विद्वेष और कलुपितता को नही आने दूंगा—चाहे वे मुझे कितना ही तिरस्कृत करें, अपमानित करें और मेरे प्रति घोर अन्याय का व्यवहार करें। मैं अपने समभावो को तनिक भी खडित नही होने दूंगा। मैं तो उनके प्रति अपनी पूर्ण सद्भावना ही व्यक्त करूँगा। मेरे शब्द मधुर ही रहेगे तथा कार्य नीतिपूर्ण ही। जैसे भी होगा मैं उन्हे भी सशोधित करने का पूरा प्रयत्न करता रहूँगा। मैं उभय पक्ष का हित ही साधूँगा, जिससे अशुभ भाव जनित कर्म वन्धन न हो।

इस रूप मे, शान्ति, प्रेम एव सौहार्द का वायुमण्डल बनने से उभय पक्ष के साथ-साथ अनेकानेक व्यक्तियो का भी हित-सम्पादन हो सकेगा। कल्पना कीजिये—एक व्यक्ति घी का पात्र लेकर चल रहा है और दूसरा व्यक्ति उसे उत्तेजित करके उस अमृत तुल्य घी को मिट्टी मे मिला देना चाहता है। तो क्या पहले व्यक्ति को यह विवेक नही रखना चाहिये कि वह अपने घी को बरवाद होने मे बचाले ? यह तो वाह्य पदार्थ घी की बात है किन्तु क्रोध से उत्तेजित होकर कोई भी व्यक्ति आसानी मे इतना अविवेकी वन जाता है कि अपनी मान-सिक, वाचिक एव कायिक शक्ति को तो नष्ट करता ही है, साथ ही अपने आस-पास के वायुमण्डल को भी घृणा, विद्वेष तथा शत्रुता से कलुषित वना देता है। अत क्रोध की उत्तेजना मे वुद्धि को निष्क्रिय नही वना देना चाहिये।

अपनी वुद्धि का सदुपयोग करते हुए पूरी समझ के साथ क्रोध का शमन करते रहना चाहिये। क्रोध शमन के तात्कालिक पाँच उपाय वताये गये है—

१ पूर्व प्रतिज्ञा का विचार

क्रोध न करने तथा समभाव रखने की जो पहले प्रतिज्ञा की हुई हो उस पर पुन-पुन. विचार करें।

२ पूर्व प्रतिज्ञा दृष्टि में लें

विचार के साथ उस प्रतिज्ञा को स्वय दृष्टा बनकर देखें।

३. प्रतिज्ञा का बारम्बार स्मरण करें

जब तक क्रोध शान्त न हो जाय, उस प्रतिज्ञा का बारम्बार स्मरण करते रहें तथा कदाचित् क्रोध उत्पन्न हो गया हो तो दण्ड-प्रायश्चित लेने का सकल्प करें।

४ मन और कार्य की दिशा बदलें

मन मे अन्यान्य शुभ विचारो को जागृत करे तथा कोई नया शुभ काम हाथ मे ले लें ताकि चित्तवृत्ति परिवर्तित हो जाय एव क्रोध का विस्मरण होकर शमन हो जाय ।

५. पच परमेष्ठि का ध्यान करें

नेत्र बन्द करके नमस्कार महामत्र का एव पच-परमेष्ठी का एकाग्रता-पूर्वक जाप करना आरम्भ कर दे ।

क्रोध त्यागें, अजातशत्रु बनें

जिस पुरुष ने मानव तन के महत्त्व तथा आत्मा को समझा है, चिन्तन-मनन के क्षणो मे इन तत्वो को उपलब्धि करने का निर्णय लिया है, उसी तन-मन से उनके साक्षात्कार की सम्भावना मान ली है तथा अपने ध्यान योग को उस दिशा मे मोड लिया है, वह साधक अपनी साधना की सिद्धि एक न एक दिन पा लेता है । इस साधना का आरम्भ होता है क्रोध के त्याग से, जो प्रगति करती हुई सभी विषय-कषायो को समाप्त करती है तथा समभाव, समदृष्टि एव समीक्षण ध्यान से विभूषित बन कर साधक को अजातशत्रु बना देती है ।

मानव तन के भीतर रहा हुआ आत्म-तत्व मूल रूप से अविनाशी चिदानन्द-स्वरूप तथा अजातशत्रु स्वभावी है । इस तत्व के मूल रूप को प्रकाशित करना ही साधना का चरम लक्ष्य है । जब लक्ष्य स्पष्ट और अविनाशी हो और साधना एकनिष्ठ, तब सिद्धि स्वयमेव समीप चली आती है । नाशवान पदार्थो के प्रति ममत्व का जब परित्याग किया जायगा तो क्रोध के प्रकट होने के अवसर ही प्राय' समाप्त हो जाएँगे । यदि नाशवान से विरक्ति होगी तो अविनाशी के प्रति ध्यान अधिक केन्द्रित होगा । उस अविनाशी स्वभाव की परिणति तब मानस तन्त्र पर उभारनी होगी । तब उसके अनुरूप, निर्मित होने वाली भावनाओ के प्रभाव से वाणी "माहणो" के रूप मे अभिव्यक्ति होगी । तब वही भावनाएँ कार्यो मे उतर कर सब ओर प्रेम की वर्षा करने लगेंगी । समूचे वायुमण्डल मे मैत्री की सुगन्ध फैल जायगी । विभिन्न पर्यायो मे परिणत आत्माएँ 'आत्मवत्' प्रतीत होगी और शत्रु भाव उत्पन्न ही नही होगा । जब कोई शत्रु नही होगा तो यही कहा जायगा कि सभी शत्रु विजित कर लिये गये हैं । इस अवस्था मे ही किसी को अजातशत्रु कहा जा सकता है ।

अभय बनें, अभय बनावें

अविनाशी आत्मस्वरूप की साधना से जब अजातशत्रुत्व प्राप्त हो जाता है

तो वह साधक पूर्ण रूप से भय रहित हो जाता है। अविनाशित्व के साथ मृत्यु का ही भय नही। अत साधक सर्वप्रकारेण अभय बन जाता है। साधक के मानस तन्त्र में व्याप्त अभय भावना तब व्यापक रूप से क्रियाशील बन जाती है। वह भावना विनाश रूप परिणति से भयाक्रान्त अवस्था वाले प्राणियो को अभय दान प्रदान करने के रचनात्मक कार्य मे परिणत होती है। मानस तन्त्र की उभय प्रणालियां उस समय दूसरो को भी इस प्रकार के कार्य की प्रेरणा देती हैं एव अभय भावना के अनुरूप पर्यायो को जानकर प्रफुल्लित होती हैं।

अभय भावना की यही परिणति वाचिक शक्ति मे परिवर्तित होकर समस्त आत्माओ को उद्बोधन देती है। उसके उद्बोधन का यह आशय होता है कि—"मैं स्वय नाश के भय को उपस्थित नही करूँगी और दूसरो के माध्यम से भी ऐसा नही करवाऊँगी। अत तुम सभी मेरी ओर से पूरी तरह निर्भय रहो।" अन्तरात्मा की ऐसी नाद-ध्वनि विश्व मे रहने वाले समस्त प्राणियो के मानस तन्त्र को प्रभावित करती है। इस क्रिया की तदनुकूल प्रतिक्रिया उस साधक के साध्य के अनुरूप साधन मे सहायक होगी क्योकि सृष्टि के अन्तर्तन्त्र मे सूक्ष्म रूप से क्रिया और प्रतिक्रिया बनती रहती है, यथा ध्वनि की प्रतिध्वनि ध्वनि के अनुरूप ही होती है।

साधनों की प्रामाणिकता

साधन का दूसरा पक्ष प्रामाणिकता है। इसके बिना साधनो की समुचित पालना हो ही नही सकती। साधक द्वारा सर्वदा अपनी मर्यादाओ का उपयोग रखना तथा साधना को साध्याभिमुखी बनाये रखना अन्त करण की साक्षी के बिना सम्भव नही होता है। यह अन्त करण की सच्ची साक्षी ही साधनों की प्रामाणिकता को बनाये रखती है। अन्त करण की प्रामाणिकता वाचिक और कायिक रूपो मे ढलकर एक साधक के व्यक्तित्व को प्रामाणिकता से प्रतिष्ठित बनाती है।

इस रूप मे प्रामाणिकता की प्रतिष्ठा उस साधक का रक्षा-कवच बन जाती है क्योकि जब कभी उसकी साधना मे कोई दुर्बलता के क्षण आते हैं तो उसके मन मे विचार उठता है कि यदि वह अपनी दुर्बलता को प्रारम्भ मे ही समाप्त नहीं कर देगा तो उसकी प्रामाणिकता को ठेस पहुँचेगी। प्रतिष्ठित प्रामाणिकता का निर्वाह उसकी सर्वतोमुखी सुदृढता का कारणभूत बन जाता है। ऐसी सुदृढता ही साधना के सघन वृक्ष को मूल रूप से सिंचन करने वाली सहायिका होती है। इस सिंचन के द्वारा उसकी साधना सिद्धि रूपी फल प्राप्त करने की दिशा मे अग्रगामी बनती है।

अतएव साधक को अपने साधन रूप मे उपार्जित प्रामाणिकता को प्रथम

पक्ष के मानसिक धरातल पर अखडित रखना चाहिये। साथ ही बाह्य जीवन मे भी सभी पक्षो मे प्रामाणिकता की पूर्ण आवश्यकता रहती है। इस प्रामाणिकता से व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को निखार सकता है तो पारिवारिक जीवन मे भी प्रामाणिकता का सचार करता हुआ सामाजिक एव राष्ट्रीय जीवन मे प्रामाणिकता का महत्त्वपूर्ण वायुमण्डल निर्मित कर सकता है। प्रामाणिकता का दीपक आभ्यन्तर एव बाह्य दोनो प्रागणो को प्रकाशित करने वाला है। इस प्रकाश के बिना किसी भी क्षेत्र मे परिपूर्ण सफलता नही मिल सकती है।

जे कोह दसी, से माण दंसी

समीक्षण-ध्यान एव समतामय आचरण के बल पर एक साधक अपनी साधना के अनुरूप क्रोध सम्बन्धी स्कन्धो का अवलोकन कर सकेगा। वह वीतराग देव की वाणी के अनुसार क्रोध के दृष्टा के रूप मे "कोह दसी" होगा। जब क्रोध को देखने की क्षमता उस साधक मे जागृत हो जायगी तब वह क्रोध रूप कार्य की जो समर्थ कारण-सामग्री होती है, उसका भी समीक्षण कर लेगा।

जैसे क्रोध के स्कन्ध आपेक्षिक दृष्टि से अति सूक्ष्म होते हैं, वैसे ही मान के स्कन्ध भी अति सूक्ष्म होते हैं। अत जो साधक "कोह दसी" बन जाता है, वह "माण दसी" भी बन जायगा। इसी कारण शास्त्र मे कहा गया है "जे कोह दसी, से माणदसी" अर्थात् जो क्रोधदर्शी है, वह मानदर्शी है। क्रोध की समर्थ कारण-सामग्री को देख लेने के साथ ही वह साधक मान की समर्थ कारण-सामग्री को भी देख लेता है। तलघर मे उतरने के लिए जैसे सीढियो की आवश्यकता होती है, वैसे ही मानव जीवन की गहराइयो मे प्रवेश करने के लिये क्रोध समीक्षण को पहली सीढी के रूप मे ले सकते हैं।

क्रोध-समीक्षण की पहली सीढ़ी पर जब साधक का पाव जम जाय, तब वह दूसरी सीढी पर उतरने का उपक्रम करेगा। अत जिस साधना के बल पर वह पहली सीढी पर सफलतापूर्वक उतर पाया था, निश्चित रूप से दूसरी सीढी पर उतरने के लिए उसकी साधना उसके अनुरूप अधिक समुन्नत बननी ही चाहिये। पहली सीढी से पाव उठाने तथा उसके दूसरी सीढी पर जमने के बीच की साधना को इस रूप मे शास्त्रों ने मान्यता दी है कि वह क्रोध समीक्षण से मान समीक्षण की ओर बढ रही है। उस समय मे क्रोध समीक्षण की सम्पूर्ति होती है तथा मान समीक्षण का पूर्व प्रारम्भी क्षण। यही "जे कोह दसी, से मान दसी" की सूक्ति का साधना-पथ है।

पहली सीढी से पैर उठाकर दूसरी सीढी पर उसे जमाने के बीच का समय वस्तुत साधना की कडी कसौटी का होता है। उन क्षणो में पावो के लडखडा जाने की काफी सम्भावना रहती है। उस चलायमान अवस्था मे यदि

साधक डगमगा गया और अपने को व्यवस्थित रूप से सम्भाल न पाया तो उसकी प्रगति या तो अवरुद्ध हो जायगी अथवा उस चलायमान अवस्था मे वह पुन. पहली सीढी पर आ जायगी। वैसी स्थिति मे उसकी प्रगति रुक जायगी। अत. साधक को चाहिए कि वह इस अन्तरिम काल मे अपनी निर्विकार समीक्षण दृष्टि को अधिक तीक्ष्ण बनाए। पहली सीढी पर रहते हुए ही दूसरी सीढ़ी के लिये व्यवस्थित तैयारी करे जिससे कि वह मान सम्बन्धी स्कन्धो को कार्य-कारण भाव के साथ देखता हुआ धैर्य के साथ दूसरी सीढ़ी के लिये अपने पाव उठाये। इस अनुसधान का सकेत प्रभु महावीर ने उपर्युक्त सूक्ति के माध्यम से आचाराग सूत्र मे दिया है और बतलाया है कि जो क्रोध का द्रष्टा होगा, वही पुरुष मान का द्रष्टा होगा। उसी का नकारात्मक रूप होगा कि जो क्रोध का द्रष्टा नही है, वह मान का द्रष्टा नही है।

क्रोध एक ऐसा कोहरा (धुवर) है कि उसमे से दूर की वस्तु को देख लेना कठिन होता है। कभी-कभी तो बिल्कुल पास की वस्तु भी नजर नही आती और सामान्यतया जिस रूप मे वस्तु दीखनी चाहिये, कोहरे के कारण वह वस्तु उस रूप मे नही दिखाई देती। जितनी दिखती है, वह भी धूमिल सी दिखाई देती है। अत दूर की वस्तु को देख लेने का तो प्रसग ही नही रहता। वैसे ही अज्ञानी मानव का जीवन क्रोध रूपी कोहरे से प्राय व्याप्त रहता है। जब सूर्य की किरणें अधिक तेज बनकर उस कोहरे पर गिरती हैं, तब कोहरे का असर घटने लगता है। वैसे ही आत्मा रूपी सूर्य की निर्विकार समीक्षण दृष्टि रूप किरणे अधिक प्रखर बनेंगी तभी क्रोध रूपी कोहरे का घनत्व कम हो सकेगा, बल्कि वह सिमट कर मिटने लगेगा। वैसी स्थिति मे जीवन सम्बन्धी समीप का स्वरूप भी कुछ स्पष्ट दीखने लगेगा। इस प्रकार क्रोध के हटे बिना आगे की यात्रा सफल नहीं हो सकेगी। इस तथ्य को ध्यान मे रखकर साधक उभय रूप साधना को अखडित रखते हुए आगे चलने का प्रयास करेगा तो वह सीढी दर-सीढी बढता रह सकेगा।

कार्य का उपादान कारण छोटा होता है। कारण को देखने से अज्ञात व्यक्ति सहसा यह निर्णय नही कर सकता है कि यह कितने विशाल कार्य का कारण बन सकता है। वट वृक्ष का बीज, वट वृक्ष का उपादान कारण है। वट वृक्ष रूपी कार्य की विशालता की तुलना मे वह बहुत ही छोटा होता है। वह छोटा सा बीज रूप कारण विशाल वट वृक्ष रूपी कार्य मे परिणत हो जाता है। इसी प्रकार क्रोध स्कन्ध रूप कार्य का कारण प्राय मान स्कन्ध होता है। जब मान स्कन्धों से एक वृत्ति बनती है तो वह वृत्ति अहं रूप विकार से ओत-प्रोत होती है। उसका व्यापक रूप सारे शरीर मे रहता है और मस्तिष्क का मुख्य केन्द्र अपने उप केन्द्रो की सहायता से मान वृत्ति का सचालन करता है। यह

वृत्ति क्रोध वृत्ति की अपेक्षा सूक्ष्मता के साथ विशेष रूप से सक्रिय होती है, परन्तु इसकी सक्रियता सहसा ज्ञात नही होती, क्योकि यह वृत्ति शिकारी बिल्ली की तरह चुपचाप अपनी खुराक ग्रहण करने मे तत्पर होती है। इसे चारो ओर से अपनी पुष्टि की चाह रहती है। प्रतिक्षण यह लालसा बनी रहती है कि सारी दुनिया की मान प्रतिष्ठा मुझे ही मिल जाय। यह वृत्ति प्रत्येक व्यक्ति के प्रत्येक व्यवहार को इसी तीव्रता से देखती रहती है कि उसका व्यवहार मेरे सम्मान के अनुकूल है या प्रतिकूल ? प्रतिकूलता की समझ के साथ ही उसका क्रोध भडक उठता है। इस रूप मे मान भी क्रोध का कारण बन जाता है।

अत साधक "कोह दसी" से "माण दसी" बनते समय अपनी साधना के सम्बन्ध मे पूरी सतर्कता रखे तथा अपनी अन्तर्यात्रा को प्रगतिशील बनावे।